नवधा भक्ति
जयदयाल गोयन्दका

नवधा भक्ति

जयदयाल गोयन्दका

सं० १९९४ से २०२० तक ८४,२५०
सं० २०२३ चौदहवाँ संस्करण १०,०००
कुल ९४,२५०

विषय-सूची

मूल्य पंद्रह पैसे

गीताप्रेस, गोरखपुर

मुद्रक तथा प्रकाशक—मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

नवधा भक्ति
श्रवण
आत्मनिवेदन
कीर्तन
सख्य
स्मरण
दास्य
पादसेवन
वन्दन
अर्चन
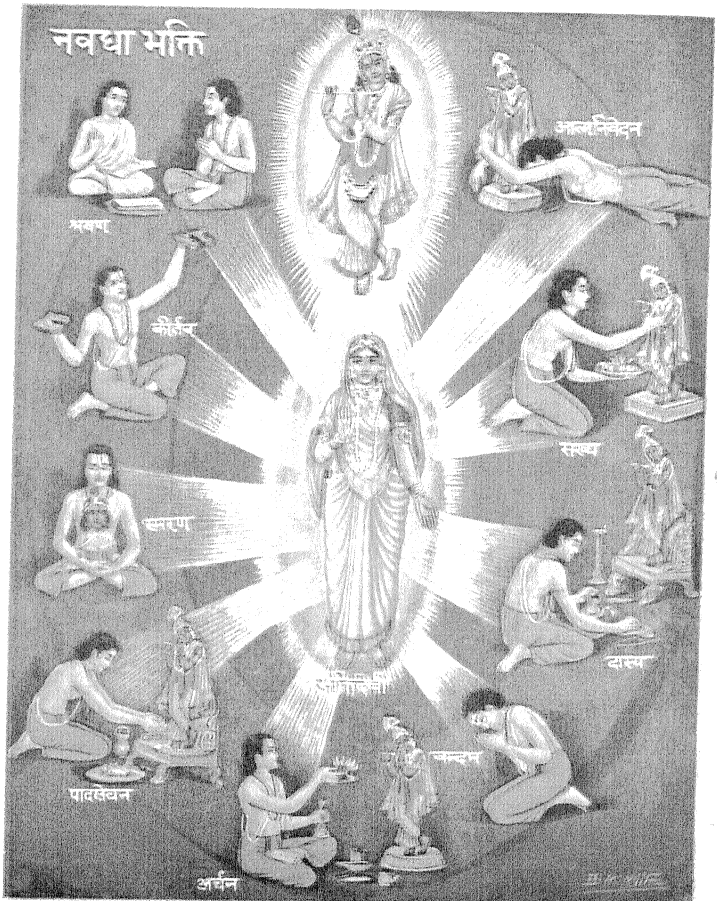
॥ श्रीहरिः ॥

नवधा भक्ति

भक्ति ही एक ऐसा साधन है जिसको सभी सुगमतासे कर सकते हैं और जिसमें सभी मनुष्योंका अधिकार है। इस कलिकालमें तो भक्तिके समान आत्मोद्धारके लिये दूसरा कोई सुगम उपाय है ही नहीं; क्योंकि ज्ञान, योग, तप, याग आदि इस समय सिद्ध होने बहुत ही कठिन है और इस समय इनके उपयुक्त सहायक सामग्री आदि साधन भी मिलने कठिन हैं। इसलिये मनुष्यको कटिबद्ध होकर केवल ईश्वरकी भक्तिका ही साधन करनेके लिये तत्पर होना चाहिये। विचार करके देखा जाय तो संसारमें धर्मको माननेवाले जितने लोग हैं उनमें अधिकांश ईश्वर-भक्तिको ही पसंद करते हैं। अब हमको यह विचार करना चाहिये कि ईश्वर क्या है और उसकी भक्ति क्या है? जो सबके शासन करनेवाले, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वान्तर्यामी हैं, न्याय और सदाचार जिनका कानून है, जो सबके साक्षी और सबको शिक्षा, बुद्धि और ज्ञान देनेवाले हैं तथा जो तीनों गुणोंसे अतीत होते हुए भी लीलामात्रसे गुणोंके भोक्ता हैं, जिनकी भक्तिसे मनुष्य सम्पूर्ण दुर्गुण, दुराचार और दुःखोंसे विमुक्त होकर परम पवित्र बन जाता है, जो अव्यक्त होकर भी जीवोंपर दया करके जीवोंके कल्याण एवं धर्मके प्रचार तथा भक्तोंको आश्रय देनेके लिये अपनी लीलासे समय-समयपर देव, मनुष्य आदि सभी रूपोंमें व्यक्त होते हैं अर्थात् साकाररूपसे प्रत्यक्ष प्रकट होकर भक्तजनोंको उनके इच्छानुसार दर्शन देकर आह्लादित करते हैं और जो सत्ययुगमें श्रीहरिके रूपमें, त्रेतायुगमें श्रीरामरूपमें, द्वापरयुगमें

श्रीकृष्णरूपमें प्रकट हुए थे, उन प्रेममय, नित्य अविनाशी, विज्ञानानन्दघन, सर्वव्यापी हरिको ईश्वर समझना चाहिये।*

अब भक्ति किसका नाम है—इस विषयमें विचार करना चाहिये। महर्षि शाण्डिल्यने कहा है—'सा परानुरक्तिरीश्वरे' ईश्वरमें परम अनुराग यानी परम प्रेम ही भक्ति है।'

देवर्षि नारदने भी भक्तिसूत्रमें कहा है—'सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा' ॥२॥ 'उस परमेश्वरमें अतिशय प्रेमरूपता ही भक्ति है।' 'अमृतस्वरूपा च' ॥३॥ 'और वह अमृतरूप है।'

इस प्रकार और भी बहुत-से वचन मिलते हैं। इनसे यही माळूम होता है कि ईश्वरमें जो परम प्रेम है,वही अमृत है, वही असली भक्ति है। यदि कहें कि व्याकरणसे भक्ति शब्दका अर्थ सेवा होता है; क्योंकि भक्ति शब्द 'भज सेवायाम्' धातुसे बनता है तो यह कहना भी ठीक ही है। प्रेम सेवाका परिणाम है और भक्तिके साधनकी अन्तिम सीमा है। जैसे वृक्षकी पूर्णता और गौरव फल आनेपर ही है, इसी प्रकार भक्तिकी पूर्णता और गौरव भगवान्में परम प्रेम होनेमें ही है। प्रेम ही उसकी पराकाष्ठा है और प्रेमके ही लिये सेवा की जाती है। इसलिये वास्तवमें भगवान्में अनन्य प्रेमका होना ही भक्ति है।

यद्यपि ईश्वरकी भक्तिमें सभी जीवोंका अधिकार होना ही न्याययुक्त है; क्योंकि हनूमान, जाम्बवन्त, गजेन्द्र, गरुड़, काकभुशुण्डि और जटायु आदि पशु-पक्षी भी भगवान्की भक्तिके प्रतापसे परमपदको

* इस विषयमें विशेष जानना हो तो 'भगवान् क्या हैं?' इस पुस्तिकाको मँगाकर देख सकते हैं। यह गीताप्रेससे छपी है और इसका मूल्य चार पैसा है।

प्राप्त हुए है, परन्तु मनुष्यातिरिक्त पशु-पक्षी आदिमे ज्ञान और साधनका अभाव होनेके कारण वे ईश्वर-भक्ति कर नहीं पाते—इसलिये शास्त्रकार ईश्वर-भक्तिमें मनुष्योंका अधिकार बतलाते है ।

ईश्वरकी भक्तिमें आयु और रूपका तो कुछ भी मूल्य नहीं है । विद्या, धन, जाति और बल——ये भी मुल्य नही हैं एवं सदाचार और सद्गुणकी तरफ भी भगवान् इतना ख्याल नही करते—वे केवल प्रेमको ही देखते हैं । किसी कविने कहा भी है—

व्याधस्याचरणं ध्रुवस्य च वयो विद्या गजेन्द्रस्य का
का जातिर्विदुरस्य यादवपतेरुग्रस्य किं पौरुषम् ।
कुब्जायाः कमनीयरूपमधिकं किं तत्सुदाम्नो धनं
भक्त्या तुष्यति केवलं न च गुणैर्भक्तिप्रियो माधवः ॥

व्याधका कौन-सा (अच्छा) आचरण था ? ध्रुवकी आयु ही क्या थी ? गजेन्द्रके पास कौन-सी विद्या थी ? विदुरकी कौन उत्तम जाति थी ? यादवपति उग्रसेनका कौन-सा पुरुषार्थ था ? कुब्जाका ऐसा क्या विशेष सुन्दर रूप था ? सुदामाके पास कौन-सा धन था ? भक्तिप्रिय माधव तो केवल भक्तिसे ही सन्तुष्ट होते हैं, गुणोंसे नही ।'

सदाचार और सद्गुण तो उस भक्तमें भक्तिके प्रभावसे अनायास ही आ जाते हैं, इसलिये ईश्वरकी भक्तिमे सदाचार और सद्गुणोंकी भी प्रधानता नहीं है । किन्तु इससे यह नहीं समझ लेना चाहिये कि ईश्वरकी भक्तिमें सदाचार और सद्गुणोंकी आवश्यकता ही नहीं है । जैसे बीमार आदमीके लिये रोगकी निवृत्तिमें औषधका सेवन प्रधान है और साथ-ही-साथ पथ्यकी भी आवश्यकता रहती है, इसी प्रकार जन्म-मरणरूपी भवरोगकी निवृत्तिके लिये ईश्वरकी भक्ति परमौषध है

और सद्गुण तथा सदाचारका सेवन पथ्य है। लौकिक रोगकी निवृत्तिके लिये रोगी औषधका सेवन करता हुआ यदि पथ्यकी ओर ध्यान नहीं देता तो उसके रोगकी निवृत्ति प्रायः नहीं होती, किन्तु सदाचार और सद्गुणरूपी पथ्यकी कमी रहनेपर भी भक्तिरूपी औषधके सेवनसे भवरोगकी निवृत्ति हो जाती है; क्योंकि भक्तिरूपी औषध पथ्यका काम भी कर लेती है। इतना ही नहीं, कुपथ्य-सेवनसे उत्पन्न हुए नाना प्रकारके दुर्गुण और विघ्नरूप दोषोंका नाश एवं सदाचार-सद्गुणरूप पथ्यका उत्पादन भी ईश्वर-भक्ति कर देती है तथा सदाके लिये रोगकी जड़ उखाड़ डालती है। अतः ईश्वर-भक्ति परमौषध है।

भक्तिके प्रधान दो भेद हैं—एक साधनरूप, जिसको वैध और नवधाके नामसे भी कहा है और दूसरा साध्यरूप, जिसको प्रेमा-प्रेमलक्षणा आदि नामोंसे कहा है। इनमें सेवा साधनरूप है और प्रेम साध्य है। अब यह विचार करना चाहिये कि सेवा किसका नाम है। इसके उत्तरमें यही कहा जा सकता है कि स्वामी जिससे सन्तुष्ट हो उस प्रकारके भावसे भावित होकर उसकी आज्ञाके अनुसार आचरण करनेका नाम सेवा है। शास्त्रोंमें उनके अनेक प्रकारके लक्षण बतलाये गये हैं।

तुलसीकृत रामायणमें शबरीके प्रति भगवान् श्रीरामचन्द्रजी कहते हैं—

प्रथम भगति संतन्ह कर संगा। दूसरि रति मम कथाप्रसंगा॥
गुर पद पंकज सेवा तीसरि भगति अमान।
चौथि भगति मम गुन गन करइ कपट तजि गान॥
मंत्र जाप मम दृढ़ बिस्वासा। पंचम भजन सो बेद प्रकासा॥
छठ दम सील बिरति बहु करमा। निरत निरंतर सज्जन धरमा॥
सातवँ सम मोहि मय जग देखा। मोतें संत अधिक करि लेखा॥

आठवँ जथालाभ संतोषा । सपनेहुँ नहिं देखइ परदोषा ॥
नवम सरल सब सन छलहीना । मम भरोस हियँ हरष न दीना ॥

तथा श्रीमद्भागवतमें भी प्रह्लादजीने कहा है—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् ।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ॥
(७ । ५ । २३)

'भगवान् विष्णुके नाम, रूप, गुण और प्रभावादिका श्रवण, कीर्तन और स्मरण तथा भगवान्‌की चरण-सेवा, पूजन और वन्दन एवं भगवान्‌में दासभाव, सखाभाव और अपनेको समर्पण कर देना—यह नौ प्रकारकी भक्ति है ।'

इस प्रकार शास्त्रोंमें भक्तिके भिन्न-भिन्न प्रकारसे अनेक लक्षण बतलाये गये हैं, किन्तु विचार करनेपर सिद्धान्तमें कोई भेद नहीं है । तात्पर्य सबका प्रायः एक ही है कि स्वामी जिस भाव और आचरणसे सन्तुष्ट हो उसी प्रकारके भावोंसे भावित होकर उनकी आज्ञाके अनुकूल आचरण करना ही सेवा यानी भक्ति है ।

अब श्रीमद्भागवतमें प्रह्लादके द्वारा बतलायी हुई नवधा भक्तिके विषयमें उसके स्वरूप, विधि, प्रयोजन, हेतु, फल और उदाहरणका दिग्दर्शन कराया जाता है । इस उपर्युक्त नवधा भक्तिमेंसे एकका भी अच्छी प्रकार अनुष्ठान करनेपर मनुष्य परमपदको प्राप्त हो जाता है, फिर जो नवोंका अच्छी प्रकारसे अनुष्ठान करनेवाला है उसके कल्याणमें तो कहना ही क्या है ।

श्रवण

भगवान्‌के प्रेमी भक्तोंद्वारा कथित भगवान्‌के नाम, रूप,

गुण, प्रभाव, लीला, तत्त्व और रहस्यभरी अमृतमयी कथाओंका श्रद्धा और प्रेमपूर्वक श्रवण करना एवं उन अमृतमयी कथाओंका श्रवण करके वीणाके सुननेसे जैसे हरिण मुग्ध हो जाता है, वैसे ही प्रेममें मुग्ध हो जाना श्रवण-भक्तिका स्वरूप है ।

उपर्युक्त श्रवण-भक्तिकी प्राप्तिके लिये श्रद्धा और प्रेमपूर्वक महापुरुषोंको साष्टाङ्ग प्रणाम, उनकी सेवा और उनसे नित्य निष्कपट-भावसे प्रश्न करना और उनके बतलाये हुए मार्गके अनुसार आचरण करनेके लिये तत्परतासे चेष्टा करना—यह श्रवण-भक्तिको प्राप्त करनेकी विधि है । श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान्‌ने कहा है—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥
(४ । ३४)

'हे अर्जुन ! तत्त्वको जाननेवाले ज्ञानी पुरुषोंसे भली प्रकार दण्डवत्-प्रणाम तथा सेवा और निष्कपटभावसे किये हुए प्रश्नद्वारा उस ज्ञानको जान; वे मर्मको जाननेवाले ज्ञानीजन तुझे उस ज्ञानका उपदेश करेंगे ।'

महापुरुषोंके द्वारा वर्णित उपर्युक्त श्रवण-भक्तिको प्राप्त करके प्रभुमें अनन्य प्रेम होनेके लिये प्रभुके भक्तोंमें उसका प्रचार करना—यह उसका प्रयोजन है ।

यह श्रवण-भक्ति महापुरुषोंके सङ्ग बिना प्राप्त होनी कठिन है । गोस्वामी तुलसीदासजीने भी कहा है—

बिनु सतसंग न हरि कथा तेहि बिनु मोह न भाग ।
मोह गएँ बिनु राम पद होइ न दृढ़ अनुराग ॥

किन्तु महापुरुषोंके सङ्गके अभावमें उच्च श्रेणीके साधकोंका सङ्ग एवं महापुरुषविरचित ग्रन्थोंका अवलोकन करना भी सत्सङ्गके ही समान है।

सत्सङ्ग न होनेसे विषयोंका सङ्ग तो स्वाभाविक होता ही है। उससे मनुष्यका पतन हो जाता है और सत्सङ्गसे प्रत्यक्ष परमलाभ होता है; क्योंकि मनुष्यके जैसा-जैसा सङ्ग होता है उस सङ्गके अनुसार ही उसपर वैसा-वैसा प्रभाव पड़ता है। और श्रवण-भक्ति भी सत्सङ्गमें ही मिलती है;क्योंकि सत्सङ्ग ही श्रवण-भक्तिका हेतु है तथा सत्पुरुषोंके दर्शन-भाषण, स्पर्श, चिन्तन और सङ्गसे पापी पुरुष भी परम पवित्र बन जाता है। महापुरुषोंकी कृपाके बिना कोई भी परमपदको प्राप्त नहीं हो सकता। श्रीमद्भागवतमें राजा रहूगणके प्रति महात्मा जडभरत कहते हैं कि—

रहूगणैतत्तपसा न याति
न चेज्यया निर्वपणाद् गृहाद्वा।
नच्छन्दसा नैव जलाग्निसूर्यै-
र्विना महत्पादरजोऽभिषेकम्॥

(५।१२।१२)

'हे रहूगण! महापुरुषोंके चरणोंकी धूलिमें स्नान किये बिना केवल तप, यज्ञ, दान, गृहस्थधर्मपालन और वेदाध्ययनसे तथा जल, अग्नि और सूर्यकी उपासनासे वह परमतत्त्वका ज्ञान नहीं प्राप्त होता।'

अतएव इससे यही सिद्ध होता है कि सारे कार्योंकी सिद्धि महापुरुषोंके सङ्गसे ही होती है। श्रीमद्भागवतमें भगवान् उद्धवके प्रति कहते हैं कि—

यथोपश्रयमाणस्य भगवन्तं विभावसुम्।
शीतं भयं तमोऽप्येति साधून् संसेवतस्तथा॥

अन्नं हि प्राणिनां प्राण आर्तानां शरणं त्वहम् ।
धर्मो वित्तं नृणां प्रेत्य सन्तोऽर्वाग् बिभ्यतोऽरणम् ।
(११ । २६ । ३१, ३३)

'हे उद्धव ! जिस प्रकार भगवान् अग्निदेवका आश्रय लेनेपर शीत, भय और अन्धकारका नाश हो जाता है, उसी प्रकार संत-महात्माओंके सेवनसे सम्पूर्ण पापरूपी शीत, जन्म-मृत्युरूपी भय और अज्ञानरूपी अन्धकारका नाश हो जाता है।'

'जैसे प्राणियोंका जीवन अन्न है और दुखी पुरुषोंका आश्रय मैं हूँ तथा मरनेपर मनुष्योंका धर्म ही धन है, वैसे ही जन्म-मरणसे भयभीत हुए व्याकुल पुरुषोंके लिये संत-महात्माजन परमाश्रय हैं।'

न रोधयति मां योगो न सांख्यं धर्म एव च ।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो नेष्टापूर्तं न दक्षिणा ॥
व्रतानि यज्ञश्छन्दांसि तीर्थानि नियमा यमाः ।
यथावरुन्धे सत्सङ्गः सर्वसङ्गापहो हि माम् ॥
(११ । ११ । १-२)

'जैसे सम्पूर्ण आसक्तियोंका नाश करनेवाला सत्पुरुषोंका सङ्ग मुझको अवरुद्ध कर सकता है अर्थात् प्रेम-पाशसे बाँध सकता है वैसे योग, सांख्य, धर्मपालन, स्वाध्याय, तप, त्याग, यज्ञ, कूप-तड़ागादिका निर्माण, दान तथा व्रत, पूजा, वेदाध्ययन, तीर्थाटन, यम-नियमोंका पालन—ये कोई भी नहीं बाँध सकते अर्थात् इनके द्वारा मैं वशमें नहीं आ सकता।'

महापुरुषोंका सङ्ग दुर्लभ, अगम्य और अमोघ है । इसलिये भगवत्प्राप्तिके इच्छुक पुरुषोंको उन सत्पुरुषोंका सङ्ग अवश्यमेव करना चाहिये । देवर्षि नारदजी भी कहते हैं—

'महत्सङ्गस्तु दुर्लभोऽगम्योऽमोघश्च' (ना० सूत्र ३९)

'महापुरुषोंका सङ्ग दुर्लभ, अगम्य और अमोघ है ।

अतः—

'तदेव साध्यताम्, तदेव साध्यताम् ।' (ना० सूत्र ४२)

'उस सत्सङ्गकी ही साधना करो—सत्सङ्गकी ही साधना करो अर्थात् संत-महापुरुषोंका सङ्ग, सेवा और आज्ञाका पालन करो ।'

सत्पुरुषोंद्वारा प्राप्त हुई इस प्रकारकी केवल श्रवण भक्तिसे भी मनुष्य परमपदको प्राप्त कर सकता है—यह उसका फल है । भगवान्ने श्रीमद्भगवद्गीतामें कहा है कि—

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते ।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥

(१३ । २५)

'दूसरे जो मन्दबुद्धिवाले पुरुष हैं वे स्वयं इस प्रकार न जानते हुए दूसरोंसे अर्थात् तत्त्वके जाननेवाले पुरुषोंसे सुनकर ही उपासना करते हैं अर्थात् उन पुरुषोंके कहनेके अनुसार ही श्रद्धासहित तत्पर हुए साधन करते हैं और वे सुननेके परायण हुए पुरुष भी मृत्युरूप संसारसागरको निःसन्देह तर जाते हैं ।'

नारदजीने भी श्रीमद्भागवतमाहात्म्यमें सनकादिके प्रति कहा है—

श्रवणं सर्वधर्मेभ्यो वरं मन्ये तपोधनाः ।
वैकुण्ठस्थो यतः कृष्णः श्रवणाद् यस्य लभ्यते ॥

(६ । ७७)

'हे तपोधनो ! मैं भगवान्के गुणानुवादोंके श्रवणको सब धर्मोंसे श्रेष्ठ मानता हूँ; क्योंकि भगवान्के गुणानुवाद सुननेसे वैकुण्ठस्थित भगवान्की प्राप्ति हो जाती है ।'

केवल श्रवण-भक्तिसे भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है। इसके लिये शास्त्रोंमें बहुत-से प्रमाण भी मिलते हैं तथा इतिहास और पुराणोंमें बहुत-से उदाहरण भी मिलते हैं। जैसे राजा परीक्षित् भागवतको सुननेसे ही परमपदको प्राप्त हो गये। श्रीमद्भागवतमाहात्म्यमें लिखा है—

असारे संसारे विषयविषसङ्गाकुलधियः
क्षणार्द्धं क्षेमार्थं पिबत शुकगाथातुलसुधाम्।
किमर्थं व्यर्थं भो व्रजत कुपथे कुत्सितकथे
परीक्षित्साक्षी यच्छ्रवणमुक्त्युक्तिकथने॥
(६। १००)

'हे विषयरूप विषके संसर्गसे व्याकुल बुद्धिवाले पुरुषो! किसलिये कुत्सित वार्तारूप कुमार्गमें व्यर्थ घूम रहे हो? इस असार संसारमें कल्याणार्थ (कम-से-कम) आधे क्षणके लिये तो शुकदेवजीके मुखसे निकली हुई भागवत-कथारूप अनुपम अमृतका पान करो। श्रवणसे मुक्ति हो जाती है—इस कथनके लिये परीक्षित् साक्षी (प्रमाण) हैं।'

धुन्धुकारी-जैसा पापी भी केवल भगवान्‌के गुणानुवादोंके सुननेके प्रभावसे तर गया तथा शौनकादि बहुत-से ऋषि भी पुराण और इतिहासके श्रवणमें ही अपने समयको व्यतीत किया करते थे—वे कभी भी नहीं अघाते थे।

इस मनुष्य-जीवनके लिये और कोई भी इससे बढ़कर आनन्ददायक श्रवणीय विषय नहीं है और यह महापुरुषोंके सङ्गसे ही प्राप्त होता है। इसलिये महापुरुषोंके सङ्गके समान आनन्ददायक लाभप्रद संसारमें कोई भी पदार्थ मनुष्योंके लिये नहीं है। श्रीमद्भागवतमें सूतजी कहते हैं—

तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिषः॥
(१।१८।१३)

'भगवत्सङ्गी अर्थात् नित्य भगवान्‌के साथ रहनेवाले अनन्यप्रेमी भक्तोंके निमेषमात्रके भी सङ्गके साथ हम स्वर्ग तथा मोक्षकी भी समानता नहीं कर सकते। फिर मनुष्योंके इच्छित पदार्थोंकी तो बात ही क्या है?'

अतएव अपना सारा जीवन महापुरुषोंके सङ्गमें रहते हुए ही भगवान्‌के नाम, रूप, गुण, प्रेम, प्रभाव, रहस्य और तत्त्वकी अमृतमयी कथाओंको निरन्तर सुननेमें लगाना चाहिये और उन्हें सुन-सुनकर प्रेम और आनन्दमें मुग्ध होते हुए अपने मनुष्य-जीवनको सफल बनाना चाहिये।

कीर्तन

भगवान्‌के नाम, रूप, गुण, प्रभाव, चरित्र, तत्त्व और रहस्यका श्रद्धा और प्रेमपूर्वक उच्चारण करते-करते शरीरमें रोमाञ्च, कण्ठावरोध, अश्रुपात, हृदयकी प्रफुल्लता, मुग्धता आदिका होना कीर्तन-भक्तिका स्वरूप है।

कथा-व्याख्यानादिके द्वारा भक्तोंके सामने भगवान्‌के प्रेम-प्रभावका कथन करना, एकान्तमें अथवा बहुतोंके साथ मिलकर भगवान्‌को सम्मुख समझते हुए उनके नामका उपांशु जप एवं ऊँचे स्वरसे कीर्तन करना, भगवान्‌के गुण, प्रभाव और चरित्र आदिका श्रद्धा और प्रेमपूर्वक धीरे-धीरे या जोरसे खड़े या बैठे रहकर, वाद्य-नृत्यके सहित अथवा बिना वाद्य-नृत्यके उच्चारण करना तथा दिव्य स्तोत्र एवं पदोंके द्वारा भगवान्‌की स्तुति-प्रार्थना करना, यही उपर्युक्त भक्तिको प्राप्त करनेका प्रकार

है। किन्तु ये सब क्रियाएँ नामके दस अपराधोंको बचाते हुए दम्भरहित एवं शुद्ध भावनासे स्वाभाविक होनी चाहिये।

उपर्युक्त कीर्तन-भक्तिको प्राप्त करके सबको भगवान्‌में अनन्य प्रेम होकर उसकी प्राप्ति हो जाय, इस उद्देश्यसे संसारमें इसका प्रचार करना, यह इसका प्रयोजन है!

कीर्तन-भक्ति भी ईश्वर एवं महापुरुषोंकी कृपासे ही प्राप्त होती है। इसलिये इस विषयमें उनकी कृपा ही हेतु है, क्योंकि भगवान्‌के भक्तोंके द्वारा भगवान्‌के प्रेम, प्रभाव, तत्त्व और रहस्यकी बातोंको सुननेसे एवं शास्त्रोंको पढ़नेसे भगवान्‌में श्रद्धा होती है और तब मनुष्य उपर्युक्त भक्तिको प्राप्त कर सकता है। अतः भगवान् और उनके भक्तों-की दया प्राप्त करनेके लिये उनकी आज्ञाका पालन करना चाहिये।

इस प्रकारकी केवल कीर्तन-भक्तिसे भी मनुष्य परमात्माकी दयासे उसमें अनन्य प्रेम करके उसे प्राप्त कर सकता है। गीतामें भगवान्‌ने कहा है—

सन्निन्दासति नामवैभवकथा श्रीशेशयोर्भेदधी-
रश्रद्धा श्रुतिशास्त्रदैशिकगिरां नाम्न्यर्थवादभ्रमः।
नामास्तीति निषिद्धवृत्तिविहितत्यागो हि धर्मान्तरैः
साम्यं नाम्नि जपे शिवस्य च हरेर्नामापराधा दश॥

सत्पुरुषोंकी निन्दा, अश्रद्धालुओंमें नामकी महिमा कहना, विष्णु और शिवमें भेदबुद्धि, वेद, शास्त्र और गुरुकी वाणीमें अविश्वास, हरिनाममें अर्थवाद-का भ्रम अर्थात् केवल स्तुतिमात्र है ऐसी मान्यता, नामके बलसे विहितका त्याग और निषिद्धका आचरण, अन्य धर्मोंकी तुलना यानी शास्त्रविहित कर्मोंसे नामकी तुलना—ये सब भगवान् शिव और विष्णुके नामजपमें नामके दस अपराध हैं।

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥
(९। ३०-३१)

'यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्य भावसे मेरा भक्त हुआ मेरेको निरन्तर भजता है वह साधु ही मानने योग्य है; क्योंकि वह यथार्थ निश्चयवाला है, अर्थात् उसने भली प्रकार निश्चय कर लिया है कि परमेश्वर-के भजनके समान अन्य कुछ भी नहीं है। इसलिये वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहनेवाली परम शान्तिको प्राप्त होता है। हे अर्जुन! तू निश्चयपूर्वक सत्य जान कि मेरा भक्त नष्ट नहीं होता।

इतना ही नहीं, इस कीर्तन-भक्तिका प्रचारक तो भगवान्‌को सबसे बढ़कर प्रिय है। भगवान्‌ने गीतामें स्वयं कहा है—

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥
न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ॥
(१८। ६८-६९)

'जो पुरुष मेरेमें परम प्रेम करके इस परम रहस्ययुक्त गीता-शास्त्रको मेरे भक्तोंमें कहेगा अर्थात् निष्काम भावसे प्रेमपूर्वक मेरे भक्तोंको पढ़ावेगा और अर्थकी व्याख्याद्वारा इसका प्रचार करके उनके हृदयमें धारण करावेगा, वह निःसन्देह मेरेको ही प्राप्त होगा, और न तो उससे बढ़कर मेरा अतिशय प्रिय कार्य करनेवाला मनुष्योंमें कोई है और न उससे बढ़कर मेरा अत्यन्त प्रिय पृथ्वीमें दूसरा कोई होवेगा।' यही इस कीर्तन-भक्तिका फल है।

भागवत और रामायणादि सभी भक्तिके ग्रन्थोंमें भगवान्‌के केवल नाम और गुणोंके कीर्तनसे सब पापोंका नाश एवं भगवत्प्राप्ति बतलायी है । श्रीमद्भागवतमें कहा है—

ब्रह्महा पितृहा गोघ्नो मातृहाऽऽचार्यहाघवान् ।
श्वादः पुल्कसको वापि शुद्ध्येरन् यस्य कीर्तनात् ॥
(६ । १३ । ८)

'ब्राह्मणघाती, पितृघाती, गोघाती, मातृघाती, गुरुघाती ऐसे पापी तथा चाण्डाल एवं म्लेच्छ जातिवाले भी जिसके कीर्तनसे शुद्ध हो जाते हैं ।'

सङ्कीर्त्यमानो भगवाननन्तः
श्रुतानुभावो व्यसनं हि पुंसाम् ।
प्रविश्य चित्तं विधुनोत्यशेषं
यथा तमोऽर्कोऽभ्रमिवातिवातः ॥
(श्रीमद्भा० १२ । १२ । ४७)

'जिस तरह सूर्य अन्धकारको, प्रचण्ड वायु बादलको छिन्न-भिन्न कर देता है उसी तरह कीर्तित होनेपर विख्यात प्रभाववाले अनन्त भगवान् मनुष्योंके हृदयमें प्रवेश करके उनके सारे पापोंको निस्सन्देह विध्वंस कर डालते हैं ।' एवं—

आपन्नः संसृतिं घोरां यन्नाम विवशो गृणन् ।
ततः सद्यो विमुच्येत यद्बिभेति स्वयं भयम् ॥
(श्रीमद्भा० १ । १ । १४)

'जिस परमात्मासे स्वयं भय भी भय खाता है उस परमात्माके नामका यह घोर संसारमें पड़ा हुआ मनुष्य विवश होकर भी उच्चारण करनेसे तुरंत संसार-बन्धनसे मुक्त हो जाता है ।

कलेर्दोषनिधे राजन्नस्ति ह्येको महान् गुणः ।
कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तसङ्गः परं व्रजेत् ॥
(श्रीमद्भा० १२ । ३ । ५१)

'हे राजन् ! दोषके खजाने कलियुगमें एक ही यह महान् गुण है कि भगवान् कृष्णके कीर्तनसे ही मनुष्य आसक्तिरहित होकर परमात्माको प्राप्त हो जाता है ।'

इत्थं हरेर्भगवतो रुचिरावतार-
वीर्याणि बालचरितानि च शन्तमानि ।
अन्यत्र चेह च श्रुतानि गृणन् मनुष्यो
भक्तिं परां परमहंसगतौ लभेत ॥
(श्रीमद्भा० ११ । ३१ । २९)

'इस प्रकार इस भागवतमें अथवा अन्य सब शास्त्रोंमें वर्णित भगवान् कृष्णके सुन्दर अवतारोंके पराक्रमोंको तथा परम मङ्गलमय बालचरित्रोंको कहता हुआ मनुष्य परमहंसोंके गतिस्वरूप भगवान्‌की परा भक्तिको प्राप्त करता है ।'

अहो बत श्वपचोऽतो गरीयान्
यज्जिह्वाग्रे वर्तते नाम तुभ्यम् ।
तेपुस्तपस्ते जुहुवुः सस्नुरार्या
ब्रह्मानूचुर्नाम गृणन्ति ये ते ॥
(श्रीमद्भा० ३ । ३३ । ७)

अहो ! आश्चर्य है कि जिसकी जिह्वापर तुम्हारा पवित्र नाम रहता वह चाण्डाल भी श्रेष्ठ है; क्योंकि जो तुम्हारे नामका कीर्तन करते हैं उन पुरुषोंने तप, यज्ञ, तीर्थस्नान और वेदाध्ययन आदि सब कुछ कर लिया ।'

रामचरितमानसमें गोस्वामी तुलसीदासजीने भी कहा है—

नामु सप्रेम जपत अनयासा । भगत होहिं मुद मंगल बासा ॥
रामु जपत प्रभु कीन्ह प्रसादू । भगत सिरोमनि भे प्रहलादू ॥
सुमिरि पवनसुत पावन नामू । अपनें बस करि राखे रामू ॥
चहुँ जुग तीनि काल तिहुँ लोका । भए नाम जपि जीव बिसोका ॥
कहौं कहाँ लगि नाम बड़ाई । रामु न सकहिं नाम गुन गाई ॥

महर्षि पतञ्जलि भी कहते हैं—

तस्य वाचकः प्रणवः । (योग० १ । २७)

'उस परमात्माका वाचक अर्थात नाम ओंकार है ।'

तज्जपस्तदर्थभावनम् । (योग० १ । २८)

'उस परमात्माके नामका जप और उसके अर्थकी भावना अर्थात् स्वरूपका चिन्तन करना ।'

ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च ।
(योग० १ । २९)

'उपर्युक्त साधनसे संपूर्ण विघ्नोंका नाश और परमात्माकी प्राप्ति भी होती है ।' नारदपुराणमें भी कहा है—

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम् ।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा ॥
(१ । ४१ । ११५)

'कलियुगमें केवल श्रीहरिका नाम ही कल्याणका परम साधन है, इसको छोड़कर दूसरा कोई उपाय ही नहीं है ।' इस तरह शास्त्रोंमें और भी बहुत-से प्रमाण मिलते हैं ।

इस कीर्तन-भक्तिसे पूर्वकालमें बहुत-से तर गये हैं । इतिहास और पुराणोंमें एवं रामायणमें बहुत-से उदाहरण भी मिलते हैं ।

भगवान्‌के नाम और गुणोंके कीर्तनके प्रतापसे पूर्वकालमें नारद, वाल्मीकि, शुकदेव आदि तथा अर्वाचीन समयमें गौराङ्ग महाप्रभु, तुलसीदास, सूरदास, नानक, तुकाराम, नरसी, मीराबाई आदि अनेक भक्त परमपदको प्राप्त हुए हैं। इनके जीवनका इतिहास विख्यात ही है। परमभक्तोंकी बात तो छोड़ दीजिये, जो महापापी थे वे भी तर गये हैं। श्रीगोस्वामी तुलसीदासजीने कहा है—

अपतु अजामिलु गजु गनिकाऊ। भए मुकुत हरिनाम प्रभाऊ॥

अत: जैसे मेघको देखकर पपीहा जलके लिये पी-पी करता है वैसे ही भगवान्‌में परम प्रेम होनेके लिये एवं भगवान्‌की प्राप्तिके लिये भगवान्‌के नाम और गुणके कीर्तनकी नित्य-निरन्तर तत्पर होकर प्राणपर्यन्त चेष्टा करनी चाहिये।

स्मरण

प्रभुके नाम, रूप, गुण, प्रभाव, लीला, तत्त्व और रहस्यभरी अमृतमयी कथाओंका जो श्रद्धा और प्रेमपूर्वक श्रवण तथा पठन किया गया है उनका मनन करना एवं इस प्रकार मनन करते-करते देहकी सुधि भुलाकर भगवान्‌के स्वरूपमें ध्रुवकी भाँति तल्लीन हो जाना स्मरण-भक्तिका स्वरूप है।

जहाँतक हो सके, एकान्त एवं पवित्र स्थानमें सुखपूर्वक स्थिर, सरल आसनसे बैठकर इन्द्रियोंको विषयोंसे रहित करके कामना और सङ्कल्पको त्यागकर प्रशान्त और वैराग्ययुक्त चित्तसे अथवा चलते-फिरते, उठते-बैठते, खाते-पीते, सोते—सभी काम करते हुए भी स्वाभाविक, शुद्ध और सरलभावसे सगुण-निर्गुण, साकार*-निराकारके

---

* श्रीमद्भागवतमें सगुण-साकारके ध्यान करनेका यह भी एक प्रकार है—

समं प्रशान्तं सुमुखं दीर्घचारुचतुर्भुजम्।
सुचारुसुन्दरग्रीवं सुकपोलं शुचिस्मितम्॥

तत्त्वको जानकर गुण और प्रभावसहित भगवान्के स्वरूपका चिन्तन करना, भगवान्के नामका मनसे स्मरण करना, भगवान्की लीलाओंका स्मरण करके मुग्ध होना, भगवान्के तत्त्व और रहस्य जाननेके लिये उनके गुण, प्रभावका चिन्तन करना, इस तरह स्मरणके बहुत-से प्रकार शास्त्रोंमें बतलाये गये हैं।

प्रभुमें अनन्य प्रेम होकर उसकी प्राप्ति होना इसका उद्देश्य है।

समानकर्णविन्यस्तस्फुरन्मकरकुण्डलम् ।
हेमाम्बरं घनश्यामं श्रीवत्सश्रीनिकेतनम् ॥
शङ्खचक्रगदापद्मवनमालाविभूषितम् ।
नूपुरैर्विलसत्पादं कौस्तुभप्रभया युतम् ॥
द्युमत्किरीटकटककटिसूत्राङ्गदायुतम् ।
सर्वाङ्गसुन्दरं हृद्यं प्रसादसुमुखेक्षणम् ।
सुकुमारमभिध्यायेत् सर्वाङ्गेषु मनो दधत् ॥
(११ । १४ । ३९—४१)

जो सम हैं, प्रशान्त हैं, जिनका मुख सुन्दर है, जिनकी लंबी-लंबी चार सुन्दर भुजाएँ हैं, जिनका कण्ठ अति सुन्दर है, जो सुन्दर कपोलवाले हैं, जिनकी मुसकान उज्ज्वल है, जो कानोंमें देदीप्यमान मकराकृत कुण्डलोंको धारण किये हुए हैं, जिनका वर्ण मेघके समान श्याम है, जो पीताम्बरधारी हैं, जिनके हृदयमें श्रीवत्स एवं लक्ष्मीका चिह्न है, जो शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म एवं वनमालासे विभूषित हैं, जिनके चरण नूपुरोंसे सुशोभित हैं, जो कौस्तुभमणिकी कान्तिसे युक्त हैं जो कान्तिवाले किरीट, कड़े, मेखला और भुजबंधों (बाजूबंद) से युक्त हैं, जिनके सम्पूर्ण अङ्ग सुन्दर हैं, जो मनोहर हैं, कृपायुक्त मुख-नेत्रवाले हैं, ऐसे सुकुमार भगवान्के अङ्गोंमें मनको लगाकर सम्यक् प्रकारसे ध्यान करे।'

प्रेमी भक्तोंके द्वारा नाम, रूप, गुण, प्रभाव आदिकी अमृतमयी कथाओंका श्रद्धा और प्रेमपूर्वक श्रवण करना, भगवद्विषयक धार्मिक पुस्तकोंका पठन-पाठन करना, भगवान्‌के नामका जप और कीर्तन करना, भगवान्‌के पद एवं स्तोत्रोंके द्वारा अथवा किसी भी प्रकारसे ध्यानके लिये करुणाभावसे स्तुति-प्रार्थना करना तथा भगवान् और महापुरुषोंका आज्ञापालन करना आदि उपर्युक्त स्मरण-भक्तिको प्राप्त करनेके उपाय हैं।

ऊपर बतलायी हुई केवल स्मरण-भक्तिसे भी सारे पाप, विघ्न, अवगुण और दुःखोंका अत्यन्त अभाव हो जाता है। भगवत्-स्मरणके द्वारा मनुष्य जो कुछ भी चाहे प्राप्त कर सकता है। भगवत्-प्राप्तिरूप परमशान्तिकी प्राप्ति भी इससे अति शीघ्र एवं सुगमतासे हो जाती है। श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण, संत-महात्मा सबने एक स्वरसे भगवत्-स्मरण (ध्यान) की बड़ी महिमा गायी है। कठोपनिषद्‌में कहा है—

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम्।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्॥
(१।२।१६)

'यह ओंकार अक्षर ही ब्रह्म है, यही परब्रह्म है, इसी ओंकाररूप अक्षरको जानकर (उपासना करके) जो मनुष्य जिस वस्तुको चाहता है उसको वही मिलती है।'

सन्ध्योपासनविधिके आदिमें लिखा है—

अपवित्रः पवित्रो वा सर्वावस्थां गतोऽपि वा।
यः स्मरेत् पुण्डरीकाक्षं स बाह्याभ्यन्तरः शुचिः॥

'अपवित्र हो, पवित्र हो, किसी भी अवस्थामें क्यों न हो, जो पुरुष भगवान् पुण्डरीकाक्षका स्मरण करता है वह बाहर और भीतरसे शुद्ध हो जाता है।' श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान्ने कहा है—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥

(६ । ३०)

'जो पुरुष सम्पूर्ण भूतोंमें सबके आत्मरूप मुझ वासुदेवको ही व्यापक देखता है और सम्पूर्ण भूतोंको मुझ वासुदेवके अन्तर्गत देखता है उसके लिये मै अदृश्य नहीं होता हूँ और वह मेरे लिये अदृश्य नहीं होता है।'

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥
अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना ।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन् ॥

(गीता ८ । ७-८)

'इसलिये हे अर्जुन ! तू सब समयमें निरन्तर मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर। इस प्रकार मेरेमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिसे युक्त हुआ निःसन्देह मेरेको ही प्राप्त होगा। यह नियम है कि परमेश्वरके ध्यानके अभ्यासरूप योगसे युक्त अन्य तरफ न जानेवाले चित्तसे निरन्तर चिन्तन करता हुआ पुरुष परमप्रकाशस्वरूप दिव्य पुरुषको अर्थात् परमेश्वरको ही प्राप्त होता है।'

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥

(गीता ८ । १४)

'हे अर्जुन ! जो पुरुष मेरेमें अनन्यचित्तसे स्थित हुआ सदा ही निरन्तर मेरेको स्मरण करता है उस निरन्तर मेरेमें युक्त हुए योगीके लिये मै सुलभ हूँ अर्थात् सहज ही प्राप्त हो जाता हूँ ।'

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥

(गीता ९ । २२)

'जो अनन्य भावसे मेरेमें स्थित हुए भक्तजन मुझ परमेश्वरको निरन्तर चिन्तन करते हुए निष्काम भावसे मेरी उपासना करते है, उन नित्य मेरेमें स्थितिवाले पुरुषोंका योगक्षेम मैं स्वयं प्राप्त कर देता हूँ ।'

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥
मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥

(गीता १२ । ६-८)

'और जो मेरे परायण हुए भक्तजन सम्पूर्ण कर्मोंको मेरेमें अर्पण करके मुझ सगुणरूप परमेश्वरको ही तैलधाराके सदृश अनन्य ध्यान-योगसे निरन्तर चिन्तन करते हुए मेरी उपासना करते हैं, उन मेरेमें चित्तको लगानेवाले प्रेमी भक्तोंका मैं शीघ्र ही मृत्युरूप संसारसमुद्रसे उद्धार करनेवाला होता हूँ । इसलिये हे अर्जुन ! तू मेरेमें मनको लगा और मेरेमें ही बुद्धिको लगा, इसके उपरान्त तू मेरेमें ही निवास करेगा, अर्थात् मेरेको ही प्राप्त होगा, इसमें कुछ भी संशय नहीं है ।'

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः ।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ॥
मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि ।

(गीता १८ । ५७-५८)

'हे अर्जुन ! तू सब कर्मोंको मनसे मेरेमें अर्पण करके मेरे परायण हुआ समत्वबुद्धिरूप निष्कामकर्मयोगको अवलम्बन करके निरन्तर मेरेमें चित्तवाला हो। इस प्रकार मेरेमें निरन्तर मनवाला हुआ, मेरी कृपासे जन्म-मृत्यु आदि सब संकटोंको अनायास ही तर जायगा ।'

श्रीमद्भागवतमें कहा है—

कीटः पेशस्कृता रुद्धः कुड्यायां तमनुस्मरन् ।
संरम्भभययोगेन विन्दते तत्स्वरूपताम् ॥
एवं कृष्णे भगवति मायामनुज ईश्वरे ।
वैरेण पूतपाप्मानस्तमीयुरनुचिन्तया ॥
कामाद् द्वेषाद् भयात्स्नेहाद् यथा भक्त्येश्वरे मनः ।
आवेश्य तदघं हित्वा बहवस्तद्गतिं गताः ॥

(७ । १ । २७–२९)

'जैसे दीवालपर भँवरेके द्वारा रुद्ध किया हुआ कीड़ा भँवरेके क्रोधके भयसे उसका स्मरण करता हुआ उसके (भँवरेके) समान ही हो जाता है वैसे ही मायासे मनुष्यरूप धारण करनेवाले परमेश्वर भगवान् श्रीकृष्णका वैरभावसे भी बारंबार चिन्तन करते हुए बहुत लोग निष्पाप होकर उनको प्राप्त हो गये । इसी तरह काम, द्वेष, भय, स्नेह तथा भक्तिसे ईश्वरमें मन लगाकर बहुत-से साधक पापरहित होकर परमपदको प्राप्त हो चुके हैं ।'

शृण्वन् गृणन् संस्मरयंश्च चिन्तयन्
नामानि रूपाणि च मङ्गलानि ते।
क्रियासु यस्त्वच्चरणारविन्दयो-
राविष्टचेता न भवाय कल्पते॥
(श्रीमद्भा० १०।२।३७)

'जो पुरुष सम्पूर्ण क्रियाओंको करते समय आपके मङ्गलमय रूप तथा नामोंका श्रवण, कथन, स्मरण एवं चिन्तन करता हुआ आपके चरणारविन्दोंमें ध्यान रखता है वह फिर संसारमें नहीं आता।'

विषयान् ध्यायतश्चित्तं विषयेषु विषज्जते।
मामनुस्मरतश्चित्तं मय्येव प्रविलीयते॥
(श्रीमद्भा० ११।१४।२७)

'विषय-चिन्तन करनेवालेका मन विषयोंमें आसक्त होता है और मेरा बार-बार स्मरण करनेवालेका मन मुझमें ही लीन हो जाता है।'

अविस्मृतिः कृष्णपदारविन्दयोः
क्षिणोत्यभद्राणि शमं तनोति च।
सत्त्वस्य शुद्धिं परमात्मभक्तिं
ज्ञानं च विज्ञानविरागयुक्तम्॥
(श्रीमद्भा० १२।१२।५४)

'श्रीकृष्णचन्द्र महाराजके चरणकमलोंकी स्मृति सब पापोंका नाश करती है तथा अन्तःकरणकी शुद्धि, परमात्मामें भक्ति, विज्ञान-विरागसहित ज्ञान एवं शान्तिका विस्तार करती है।'

श्रीविष्णुसहस्रनामके आदिमें कहा है—

यस्य स्मरणमात्रेण जन्मसंसारबन्धनात्।
विमुच्यते नमस्तस्मै विष्णवे प्रभविष्णवे॥

'जिसके स्मरणमात्रसे मनुष्य जन्मरूपी संसार-बन्धनसे मुक्त हो जाता है, संसारको उत्पन्न करनेवाले उस विष्णुके लिये नमस्कार है ।'

श्रीतुलसीकृत रामायणमें सुतीक्ष्णकी स्मरण-भक्ति सराहनीय है । सुतीक्ष्ण भगवान्‌के प्रेममें मग्न होकर मन-ही-मन भगवान्‌का स्मरण करता हुआ कहता है—

सो परम प्रिय अति पातकी जिन्ह कबहुँ प्रभु सुमिरन करयौ ।
ते आजु मैं निज नयन देखौं पूरि पुलकित हिय भरयौ ॥
जे पदसरोज अनेक मुनि करि ध्यान कबहुँक पावहीं ।
ते राम श्रीरघुबंसमनि प्रभु प्रेम तें सुख पावहीं ॥

आगे जाकर भगवान्‌के ध्यानमें ऐसा मस्त हो गया कि उसे अपने तन-मनकी सुधि न रही ।

मुनि मग माझ अचल होइ बैसा । पुलक सरीर पनस फल जैसा ॥

इतना ही नहीं, भगवान्‌के दर्शन होनेपर भी यही वर माँगा कि हे नाथ ! मेरे हृदयमें आप निरन्तर वास करो ।

अनुज जानकी सहित प्रभु चाप बान धर राम ।
मम हिय गगन इंदु इव बसहु सदा निहकाम ॥

इससे यही सिद्ध होता है कि सुतीक्ष्णको भगवान्‌का ध्यान बहुत ही प्रिय था । इसी प्रकार स्मरण करनेवाले भक्तोंके शास्त्रोंमें बहुत-से नाम आते हैं, किन्तु लेखका कलेवर बढ़नेके भयसे सबका चरित्र न देकर केवल कतिपय भक्तोंके नाममात्र दे दिये जाते हैं । जैसे सनकादि, ध्रुव, भीष्म, कुन्ती आदि स्मरण-भक्तिसे ही परमपदको प्राप्त हुए हैं । इसके अतिरिक्त नीच जातिवाली भिलनी एवं जटायु पक्षीको भी भगवत्-स्मरणसे परमगति मिली ।

गुण, प्रभाव एवं प्रेमसहित भगवान्‌के स्वरूपके ध्यानके समान इस संसारमें शीघ्र उद्धार करनेवाला और कोई भी साधन नहीं है। प्रायः सारे साधनोंका फल भगवत्स्मरण है। इसलिये अपना सारा जीवन उपर्युक्त प्रकारसे भगवत्-चिन्तनमें बितानेकी कटिबद्ध होकर चेष्टा करनी चाहिये। श्रीकबीरदासजीने भी कहा है—

सुमिरनसों मन लाइये, जैसे दीप पतंग।
प्रान तजे छिन एकमें, जरत न मोड़ै अंग॥
सुमिरनसों मन लाइये, जैसे कीट भिरंग।
कबीर बिसारे आपको, होय जाय तेहि रंग॥

इसलिये भगवत्-प्राप्तिकी इच्छावाले साधक पुरुषको उचित है कि सब कार्य करते हुए भी जैसे कछुआ अण्डोंका, गऊ बछड़ेका, कामी स्त्रीका, लोभी धनका, नटी अपने चरणोंका, मोटर चलानेवाला सड़कका ध्यान रखता है, वैसे ही वह परमात्माका ध्यान रक्खे।

पाद-सेवन

सञ्चिन्तयेद् भगवतश्चरणारविन्दं
वज्राङ्कुशध्वजसरोरुहलाञ्छनाढ्यम्।
उत्तुङ्गरक्तविलसन्नखचक्रवाल-
ज्योत्स्नाभिराहतमहद्धृदयान्धकारम्॥
यच्छौचनिःसृतसरित्प्रवरोदकेन
तीर्थेन मूर्ध्न्यधिकृतेन शिवः शिवोऽभूत्।
ध्यातुर्मनःशमलशैलनिसृष्टवज्रं
ध्यायेच्चिरं भगवतश्चरणारविन्दम्॥

(श्रीमद्भा० ३।२८।२१-२२)

'जो वज्र, अङ्कुश, ध्वजा एवं कमल आदि चिह्नोंसे युक्त हैं, जिनके शोभायुक्त, रक्तवर्ण, उन्नत नखमण्डलकी प्रभा भक्तोंके हृदयके महान् अन्धकारको पूर्णतः नष्ट कर देती है, श्रीभगवान्‌के उन चरण-कमलोंका बड़े प्रेमसे चिन्तन करना चाहिये।'

'जिनके चरणोंके प्रक्षालनजलसे निकली हुई गङ्गाजीके पवित्र जलको सिरपर धारण करके शिवने शिवत्व प्राप्त किया है और जो ध्यान करनेवाले पुरुषोंके अन्तःकरणमें रहनेवाले पापरूप पहाड़ोंके लिये इन्द्रद्वारा छोड़े हुए वज्रके समान हैं अर्थात् जिनके ध्यानसे पापराशि नष्ट हो जाती है, भगवान्‌के उन चरणकमलोंका चिरकाल-तक चिन्तन करना चाहिये।'

श्रीभगवान्‌के दिव्य मङ्गलमय स्वरूपकी धातु आदिकी मूर्ति, चित्रपट अथवा मानस-मूर्तिके मनोहर चरणोंका श्रद्धापूर्वक दर्शन, चिन्तन, पूजन और सेवन करते-करते भगवत्-प्रेममें तन्मय हो जाना ही 'पाद-सेवन' कहलाता है।

बार-बार अतृप्त नयनोंसे भगवान्‌के चरणारविन्दका दर्शन करना, भगवच्चरणोंका पूजन और सेवन करना तथा चरणोदक लेना, मनसे भगवच्चरणोंका चिन्तन-पूजन करना, भगवान्‌की चरणपादुकाओंका हाथोंसे पूजन और मनसे चिन्तन तथा पूजन करना भगवान्‌की चरण-रजको मनसे मस्तकपर धारण करना, हृदयसे लगाना, भगवान्‌के चरणोंसे स्पर्श किये हुए शय्यासन आदिको तीर्थसे बढ़कर समझ उनका समादर करना, अयोध्या, चित्रकूट, वृन्दावन, मथुरा आदि स्थानोंको, जहाँ-जहाँ भगवान्‌का अवतार या प्राकट्य हुआ है या जहाँ-जहाँ भगवान्‌के चरण

टिके है, परम तीर्थ समझकर—वहाँकी धूलिको भगवान्‌की चरणधूलि मानकर मस्तकपर धारण करना, जिस वस्तुको भगवान्‌का चरणस्पर्श प्राप्त हुआ है, उस वस्तुका हृदयसे आदर करना और उसे मस्तकपर धारण करना और श्रीगङ्गाजीके जलको भगवान्‌का चरणोदक समझकर प्रणाम-पूजन, स्नान-पानादिके द्वारा उसका सेवन करना आदि सभी 'पाद-सेवन' भक्तिके ही विभिन्न प्रकार हैं।

ममता, अहङ्कार और अभिमान आदिका नाश होकर प्रभुके चरणमें अनन्य प्रेमकी प्राप्ति होनेके उद्देश्यसे पाद-सेवन भक्ति की जाती है।

भगवान्‌के अनन्य भक्तोंका सङ्ग करनेसे भगवान्‌की चरण-सेवाका तत्त्व, रहस्य और प्रभाव सुननेको मिलता है, उससे श्रद्धा होकर तब यह भक्ति प्राप्त होती है।

केवल इस पाद-सेवन-भक्तिसे भी मनुष्यके सम्पूर्ण दुराचार, दुर्गुण और दुःख सर्वथा नष्ट हो जाते हैं और भगवान्‌में सहज ही अतिशय श्रद्धा और प्रेम होकर उसे आत्यन्तिकी परमा शान्तिकी प्राप्ति होती है। उसके लिये कुछ भी दुर्लभ नहीं रह जाता।

शास्त्र और महात्माओंने पाद-सेवन-भक्तिकी बड़ी महिमा गायी है। श्रीशङ्कराचार्य कहते हैं कि भगवान्‌की चरणकमलरूपी नौका ही संसार-सागरसे पार उतारनेवाली है—

अपारसंसारसमुद्रमध्ये
सम्मज्जतो मे शरणं किमस्ति।
गुरो कृपालो कृपया वदैतद्
विश्वेशपादाम्बुजदीर्घनौका ॥

शिष्य—'हे कृपालु गुरुदेव! आप कृपा करके यह बतावें कि इस अपार संसाररूपी समुद्रमें मुझ डूबते हुएके लिये सहारा क्या है ?' गुरु—'भगवान् विश्वेश्वरके चरण-कमलरूप जहाज ही एकमात्र सहारा है।'

भगवान्के चरणोदकका पान करनेसे और उसे मस्तकपर धारण करनेसे भी कल्याण होता है। भगवान् श्रीरामचन्द्रजीका चरणामृत पीकर उन्हें नौकासे उस पार ले जाते समयके प्रसङ्गमें केवटकी महिमा गाते हुए श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

पद पखारि जलु पान करि आपु सहित परिवार।
पितर पारु करि प्रभुहि पुनि मुदित गयउ लेइ पार॥

नित्य-निरन्तर प्रभुके चरणोंका दर्शन और सेवन करके पल-पलमें किस प्रकार आनन्दित होना चाहिये, इसका आदर्श श्रीसीताजी हैं। वनगमनके समय आप भगवान्से कहती हैं—

छिनु छिनु प्रभु पद कमल बिलोकी। रहिहउँ मुदित दिवस जिमि कोकी॥
मोहि मग चलत न होइहि हारी। छिनु छिनु चरन सरोज निहारी॥
पाय पखारि बैठि तरु छाहीं। करिहउँ बाउ मुदित मन माहीं॥
सम महि तृन तरु पल्लव डासी। पाय पलोटिहि सब निसि दासी॥

भगवान् श्रीरामके चरणचिह्न, चरणरज और चरणपादुकाके दर्शन तथा सेवनसे भरतजीको कितना आनन्द प्राप्त होता है और उनकी कैसी प्रेमतन्मय दशा हो जाती है। भगवान् शिवके शब्दोंमें सुनिये—

स तत्र वज्राङ्कुशवारिजाञ्चित-
ध्वजादिचिह्नानि पदानि सर्वतः।
ददर्श रामस्य भुवोऽतिमङ्गला-
न्यचेष्टयत्पादरजःसु सानुजः॥

अहो सुधन्योऽहममूनि राम-
पादारविन्दाङ्कितभूतलानि ।
पश्यामि यत्पादरजो विमृग्यं
ब्रह्मादिदेवैः श्रुतिभिश्च नित्यम् ॥
(अध्यात्मरामायण २ । ९ । २-३)

'वहाँ उन्होंने सब ओर श्रीरामचन्द्रके वज्र, अङ्कुश, कमल और ध्वजा आदिके चिह्नोंसे सुशोभित तथा पृथ्वीके लिये अति मङ्गलमय चरणचिह्न देखे; उन्हें देखकर भाई शत्रुघ्नके साथ वे उस चरणरजमें लोटने लगे और मन-ही-मन कहने लगे—'अहो ! मैं परम धन्य हूँ जो आज भगवान् श्रीरामजीके उन चरणारविन्दोंके चिह्नोंसे विभूषित भूमिको देख रहा हूँ, जिनकी चरणरजको ब्रह्मादि देवता और श्रुतियाँ भी सदा खोजती रहती हैं ।'

गोसाईं श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

रज सिर धरि हियँ नयनन्हि लावहिं । रघुबर मिलन सरिस सुख पावहिं ॥
नित पूजत प्रभु पाँवरी प्रीति न हृदयँ समाति ।
मागि मागि आयसु करत राज काज बहु भाँति ॥

अहल्या भगवान्‌के चरणरजको पाकर कृतार्थ हो जाती है और कहती है—

अहो कृतार्थास्मि जगन्निवास ते
पादाब्जसंलग्नरजःकणादहम् ।
स्पृशामि यत्पद्मजशङ्करादिभि-
र्विमृग्यते रन्धितमानसैः सदा ॥
(अ० रा० १ । ५ । ४३)

'हे जगन्निवास ! आपके चरणकमलोंमें लगे हुए रजःकणोंका स्पर्श पाकर आज मैं कृतार्थ हो गयी । अहो ! आपके जिन

चरणारविन्दोंका ब्रह्मा, शङ्कर आदि सदा चित्त लगाकर अनुसन्धान किया करते हैं, आज मैं उन्हीका स्पर्श कर रही हूँ।'

भगवान्‌के चरणोंका आश्रय लेनेसे मनुष्यके सब दोषोंका नाश हो जाता है, उसकी सारी विपत्तियाँ टल जाती हैं और वह गोपदके समान संसार-सागरसे तर जाता है। श्रीमद्भागवतमें कहा है—

तावद्भयं द्रविणगेहसुहृन्निमित्तं
शोकः स्पृहा परिभवो विपुलश्च लोभः।
तावन्ममेत्यसदवग्रह आर्तिमूलं
यावन्न तेऽङ्घ्रिमभयं प्रवृणीत लोकः॥
(३।९।६)

'हे प्रभो! जबतक लोग तुम्हारे अभय चरणकमलोंका सच्चे हृदयसे आश्रय नहीं लेते, तभीतक धन, घर, मित्र आदिके निमित्तसे भय, शोक, स्पृहा, पराजय एवं महान् लोभ—ये सब होते हैं और तभीतक सम्पूर्ण दुःखोंका मूल 'यह मेरा है' ऐसी झूठी धारणा रहती है। अर्थात् भगवान्‌की चरण-शरणमें आनेपर यह सब नष्ट हो जाते हैं।'

समाश्रिता ये पदपल्लवप्लवं
महत्पदं पुण्ययशोमुरारेः।
भवाम्बुधिर्वत्सपदं परं पदं
पदं पदं यद् विपदां न तेषाम्॥
(श्रीमद्भा० १०।१४।५८)

'जिन्होंने संतोंके आश्रयणीय, पवित्र यशवाले भगवान्‌के पदपल्लवरूपी जहाजका आश्रय लिया है, उनके लिये संसारसागर, बछड़ेका पैर टिके, इतना-सा हो जाता है, उन्हें पद-पदमें परमपद प्राप्त है, इसलिये कभी भी उन्हें विपत्तियोंके दर्शन नहीं होते।'

त्वय्यम्बुजाक्षाखिलसत्त्वधाम्नि
समाधिनाऽऽवेशितचेतसैके ।
त्वत्पादपोतेन महत्कृतेन
कुर्वन्ति गोवत्सपदं भवाब्धिम् ॥
(श्रीमद्भा० १० । २ । ३०)

'हे कमलनयन ! कई संतलोग सम्पूर्ण सत्त्वके धाम तुममें समाधिके द्वारा अपना चित्त तल्लीन करके महात्माओंके द्वारा अनुभूत तुम्हारे चरणकमलोंका जहाज बनाकर संसार-सागरको गोवत्सपदके समान पार कर जाते हैं ।'

भगवान्‌की चरणरजके शरण हुए प्रेमी भक्त तो स्वर्गादिकी तो बात ही क्या, मोक्षतकका तिरस्कार कर चरणरजके सेवनमें ही संलग्न रहना चाहते हैं । नागपत्नियाँ कहती हैं—

न नाकपृष्ठं न च सार्वभौमं
न पारमेष्ठ्यं न रसाधिपत्यम् ।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा
वाञ्छन्ति यत्पादरजः प्रपन्नाः ॥
(श्रीमद्भा० १० । १६ । १७)

'आपकी चरणधूलिकी शरण ग्रहण करनेवाले भक्तजन न स्वर्ग चाहते हैं, न चक्रवर्तिता, न ब्रह्माका पद, न सारी पृथ्वीका स्वामित्व और न योगसिद्धियाँ ही; अधिक क्या वे मोक्षपदकी भी वाञ्छा नहीं करते ।'

भगवान्‌की केवल पाद-सेवन-भक्तिसे ही भगवान्‌के अनन्य प्रेमको प्राप्त करनेवाले अनेकों भक्तोंका शास्त्रोंमें वर्णन आता है । अतएव भगवान्‌के पवित्र चरणोंमें श्रद्धापूर्वक मन लगाकर उनका नित्य सेवन करना चाहिये ।

अर्चन

श्रीविष्णोरर्चनं ये तु प्रकुर्वन्ति नरा भुवि।
ते यान्ति शाश्वतं विष्णोरानन्दं परमं पदम्॥

(विष्णुरहस्य)

'जो लोग इस संसारमें श्रीभगवान्‌की अर्चा-पूजा करते हैं, वे श्रीभगवान्‌के अविनाशी आनन्दस्वरूप परमपदको प्राप्त होते हैं।' भगवान्‌के भक्तोंसे सुने हुए, शास्त्रोंमें पढ़े हुए, धातु आदिसे बनी मूर्ति या चित्रपटके रूपमें देखे हुए अपने मनको रुचनेवाले किसी भी भगवान्‌के स्वरूपका बाह्य सामग्रियोंसे, भगवान्‌की किसी भी अपने अभिलषित स्वरूपकी मानसिक मूर्ति बनाकर मानसिक सामग्रियोंसे अथवा सम्पूर्ण भूतोंमें परमात्माको स्थित समझकर सबका आदर-सत्कार करते हुए यथायोग्य नानाविध उपचारोंसे श्रद्धा-भक्ति-पूर्वक उनका सेवन-पूजन करना और उनके तत्त्व, रहस्य तथा प्रभावको समझ समझकर प्रेममें मुग्ध होना अर्चन-भक्ति है।

पत्र, पुष्प, चन्दन आदि सात्त्विक, पवित्र और न्यायोपार्जित द्रव्यों-से भगवान्‌की प्रतिमाका श्रद्धापूर्वक पूजन करना, भगवान्‌की प्रीतिके लिये शास्त्रोक्त यज्ञादि करना, सबको भगवान्‌का स्वरूप समझकर अपने वर्णाश्रमके अनुसार उनकी यथायोग्य सेवा करना तथा सत्कार, मान, पूजा आदिसे सन्तुष्ट करना और दुखी, अनाथ, अपंग, पीड़ित प्राणियोंमें भूखोंकी अन्नसे, प्यासोंकी जलसे, वस्त्रहीनोंकी वस्त्रादिसे, रोगियोंकी औषधादिसे, अनाथोंकी आश्रय-दानसे यथावश्यक यथाशक्ति श्रद्धा और सत्कारपूर्वक सबको भगवत्स्वरूप समझकर भगवत्प्रीतिके लिये सेवा करना आदि सभी भगवान्‌की बाह्य पूजाके प्रकार हैं।

शास्त्रोंमें वर्णन किये हुए अपने चित्तको अनायास ही आकर्षित करनेवाले भगवान्‌के किसी भी अलौकिक रूपलावण्ययुक्त, अनन्त सौन्दर्य-माधुर्यमय परम तेजोमण्डित स्वरूपका प्रत्येक अवयव वस्त्रा-भूषण, आयुधादिसे युक्त और हस्तपदादिके मङ्गलचिह्नोंसहित मनके द्वारा चिन्तन करके आह्लादपूर्वक मनमें उसका आवाहन, स्थापन और नानाविध मानसिक सामग्रियोंके द्वारा अत्यन्त श्रद्धा और प्रेमके साथ पूजन करना मानस-पूजाका प्रकार है।

भगवान्‌में अनन्य प्रेम होकर सबको उसकी प्राप्ति हो जाय इस उद्देश्यसे परम श्रद्धापूर्वक स्वयं आचरण करना या करवाना इसका प्रयोजन है।

अर्चन-भक्तिका स्वरूप और तत्त्व जाननेके लिये भगवान्‌के परम प्रेमी भक्तोंका सङ्ग और सेवन करना चाहिये।

उपर्युक्त प्रकारसे भगवान्‌की पूजा करनेसे मनुष्य जो कुछ चाहता है, वही उसे मिल जाता है और सहज ही उसे भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है। श्रीमद्भागवतमें कहा है—

> स्वर्गापवर्गयोः पुंसां रसायां भुवि सम्पदाम्।
> सर्वासामपि सिद्धीनां मूलं तच्चरणार्चनम्॥
> (१०।८१।१९)

श्रीभगवान्‌के चरणोंका अर्चन-पूजन करना जीवोंके स्वर्ग और मोक्षका एवं मर्त्यलोक और पाताललोकमें रहनेवाली समस्त सम्पत्तियोंका और सम्पूर्ण सिद्धियोंका भी मूल है।'

अपने-अपने कर्मोंके द्वारा भगवान्‌की पूजासे भगवत्प्राप्ति होती है, इस बातकी घोषणा स्वयं भगवान्‌ने गीतामें की है—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥

(१८ । ४६)

'हे अर्जुन ! जिस परमात्मासे सर्वभूतोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह सर्व जगत् व्याप्त है उस परमेश्वरको अपने स्वाभाविक कर्मद्वारा पूजकर मनुष्य परमसिद्धिको प्राप्त होता है ।'

इतना ही नहीं, परम श्रद्धा और प्रेमके साथ भगवान्‌की पूजा की जाय तो वे स्वयं अपने दिव्य मङ्गल-विग्रह-स्वरूपमें प्रकट होकर भक्तके अर्पण किये हुए पदार्थोंको खाते हैं । भगवान् स्वयं कहते हैं—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥

(९ । २६)

'हे अर्जुन ! पत्र, पुष्प, फल, जल इत्यादि जो कोई भक्त मेरे लिये प्रेमसे अर्पण करता है, उस शुद्धबुद्धि, निष्काम प्रेमी भक्तका प्रेमपूर्वक अर्पण किया हुआ वह पत्र-पुष्पादि मैं सगुणरूपसे प्रकट होकर प्रीतिसहित खाता हूँ ।'

राजा पृथु, अम्बरीष आदि बहुतोंने विधिपूर्वक नाना उपचारोंसे और मन, इन्द्रियोंसे भगवान्‌की पूजा की और वे अनायास ही भगवान्‌को प्राप्त हो गये । इनकी तो बात ही क्या, नाना उपचारोंके बिना भी केवल भक्तिपूर्वक पूजा करनेवाले सुदामाने केवल चावलोंकी

कनियोंसे, गजेन्द्रने एक पुष्पसे, द्रौपदीने शाक-पत्रसे भगवान्को पूजकर परम सिद्धि प्राप्त की। शबरी-जैसी हीन जातिकी स्त्री भी केवल बेरोंसे ही भगवान्को सन्तुष्ट कर परमपदको प्राप्त हो गयी।

अतएव भगवान्के प्रेममें विह्वल होकर श्रद्धापूर्वक अपनी-अपनी रुचि और भावनाके अनुसार भगवान्की पूजा करनी चाहिये।

वन्दन

ध्येयं सदा परिभवघ्नमभीष्टदोहं
तीर्थास्पदं शिवविरिञ्चिनुतं शरण्यम्।
भृत्यार्तिहं प्रणतपाल भवाब्धिपोतं
वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम्॥
(श्रीमद्भा० ११। ५। ३३)

'हे पुरुषोत्तम! हे प्रभो! जो सर्वदा ध्यान करने योग्य हैं, तिरस्कारको नष्ट करनेवाले हैं, समस्त मनोरथोंको पूर्ण करनेवाले हैं, जो तीर्थोंके आधार हैं, जिन्हें शिव और ब्रह्मा सिरसे नमस्कार करते हैं और जो शरणागतोंकी रक्षा करनेमें प्रवीण हैं, जो सेवकोंकी विपत्तिके नाशक हैं, नमस्कार करनेवालोंके रक्षक एवं संसार-सागरके जहाज हैं, तुम्हारे उन चरण-कमलोंकी मैं वन्दना करता हूँ।'

भगवान्के शास्त्रवर्णित स्वरूप, भगवान्के नाम, भगवान्की धातु आदिकी मूर्ति, चित्र अथवा मानसिक मूर्तिको शरीर अथवा मनसे श्रद्धासहित साष्टाङ्ग प्रणाम करना या समस्त चराचर भूतोंको परमात्माका स्वरूप समझकर श्रद्धापूर्वक शरीर या मनसे प्रणाम करना और ऐसा करते हुए भगवत्प्रेममें मुग्ध होना वन्दन-भक्ति है।

भगवान्‌के मन्दिरोंमें जाकर श्रद्धा-भक्तिपूर्वक भगवान्‌की मूर्तिको साष्टाङ्ग प्रणाम करना, अपने-अपने घरोंमें भगवान्‌की प्रतिमा या चित्रपट-को, भगवान्‌के नामको, भगवान्‌के चरण और चरणपादुकाओंको, भगवान्‌के तत्त्व, रहस्य, प्रेम, प्रभाव और भगवान्‌की मधुर लीलाओंका जिनमें वर्णन हो, ऐसे सत्-शास्त्रोंको और सम्पूर्ण चराचर जीवोंको भगवान्‌का स्वरूप समझकर या उनके हृदयमें भगवान्‌को स्थित समझकर विनयपूर्वक श्रद्धासहित गद्गद भावसे प्रणाम करना वन्दन-भक्तिके प्रकार हैं। श्रीमद्भागवतमें योगीश्वर कवि कहते हैं—

खं वायुमग्निं सलिलं महीं च
ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन्।
सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं
यत्किञ्च भूतं प्रणमेदनन्यः॥

(११। २। ४१)

'आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, नक्षत्र, दिशाएँ और वृक्ष-लता आदि एवं नदियाँ, समुद्र और सम्पूर्ण भूतप्राणी भगवान्‌के शरीर हैं; अतः भगवान्‌का अनन्यभक्त यावन्मात्र जगत्‌को भगवद्भावसे प्रणाम करे।'

भगवान्‌को सर्वत्र और सब ओर समझकर उन्हें किस प्रकार प्रणाम करना चाहिये, इसके लिये अर्जुनका उदाहरण बड़ा सुन्दर है। अर्जुन भगवान्‌को नमस्कार करते हुए कहते हैं—

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते
नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व।

अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं
सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ॥
(गीता ११ । ४०)

'हे अनन्त सामर्थ्यवाले ! आपके लिये आगेसे और पीछेसे भी नमस्कार होवे । हे सर्वात्मन् ! आपके लिये सब ओरसे ही नमस्कार होवे; क्योंकि अनन्त पराक्रमशाली आप सब संसारको व्याप्त किये हुए हैं, इससे आप ही सर्वरूप हैं ।'

श्रीतुलसीदासजी महाराज समस्त जगत्‌को 'सीयराममय' देखकर प्रणाम करते हैं—

सीय राममय सब जग जानी । करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी ॥

भगवान्‌में अनन्य प्रेम होकर भगवान्‌को प्राप्त करना इस भक्तिका उद्देश्य है । भगवान्‌के प्यारे प्रेमी भक्तोंका सङ्ग और सेवन करके उनके द्वारा भगवान्‌के श्रद्धा, प्रेम, रहस्य, प्रभाव और तत्त्वका मर्म समझनेसे यह वन्दन-भक्ति प्राप्त होती है ।

भगवान्‌के रहस्यको समझकर उन्हें प्रणाम करनेवाला सब दुःखोंसे छूट जाता है । अनुस्मृतिके वचन हैं—

न वासुदेवात्परमस्ति मङ्गलं
न वासुदेवात्परमस्ति पावनम् ।
न वासुदेवात्परमस्ति दैवतं
तं वासुदेवं प्रणमन्न सीदति ॥ १०१ ॥

'भगवान् वासुदेवसे अधिक और कुछ मङ्गलमय नहीं है, वासुदेवसे अधिक और कुछ पावन नहीं है एवं वासुदेवसे श्रेष्ठ और

कोई आराध्य देवता नहीं है, उन वासुदेवको नमस्कार करनेवाला कभी दुखी नहीं होता।'

श्रद्धा और प्रेमपूर्वक भगवान्‌को केवल साष्टाङ्ग प्रणाम करनेसे भी मनुष्य सब पापोंसे मुक्त होकर परमपदको प्राप्त हो सकता है—

एकोऽपि कृष्णस्य कृतः प्रणामो
दशाश्वमेधावभृथेन तुल्यः।
दशाश्वमेधी पुनरेति जन्म
कृष्णप्रणामी न पुनर्भवाय॥

(भीष्मस्तवराज ९१)

'भगवान् श्रीकृष्णको किया हुआ एक भी प्रणाम दस अश्वमेधयज्ञों-के अवभृथस्नानके बराबर है, (इतना ही नहीं, विशेषता यह है कि) दस अश्वमेध करनेवालेको तो फिर जन्म लेना पड़ता है; किन्तु भगवान् श्रीकृष्णको प्रणाम करनेवालेको फिर जन्म नहीं लेना पड़ता।'

श्रद्धापूर्वक भगवान्‌को प्रणाम करनेवालेकी तो बात ही क्या है, किसी भी अवस्थामें भगवान्‌को प्रणाम करनेसे सब पापोंका नाश हो जाता है—

पतितः स्खलितश्चार्तः क्षुत्त्वा वा विवशो ब्रुवन्।
हरये नम इत्युच्चैर्मुच्यते सर्वपातकात्॥

(श्रीमद्भा० १२। १२। ४६)

'पतित, स्खलित, आर्त, छींकता हुआ अथवा किसी प्रकारसे परवश हुआ पुरुष भी यदि ऊँचे स्वरसे 'हरये नमः' इस प्रकार बोल उठता है तो वह सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त हो जाता है।'

भगवान्के अनेकों भक्त इस प्रकार केवल नमस्कार करके ही परमपदको प्राप्त हो गये; परन्तु इनका नमस्कार करना बड़ा ही अनोखा होता है। देखिये अक्रूरजी किस प्रकार मुग्ध होकर नमस्कार करते हैं—

रथात्तूर्णमवप्लुत्य सोऽक्रूरः स्नेहविह्वलः।
पपात चरणोपान्ते दण्डवद् रामकृष्णयोः॥

(श्रीमद्भा० १०। ३८। ३४)

'अक्रूर प्रेमविह्वल होकर बड़ी शीघ्रताके साथ रथसे कूदकर भगवान् बलराम और श्रीकृष्णके चरणोंके पास दण्डवत् गिर पड़े।'

पितामह भीष्म गद्गद होकर भगवान्को नमस्कार करते हैं और भगवान् तत्काल ही उन्हें अपना दिव्य ज्ञान दे देते हैं। वैशम्पायन मुनि कहते हैं—

एतावदुक्त्वा वचनं भीष्मस्तद्गतमानसः।
नम इत्येव कृष्णाय प्रणाममकरोत्तदा॥
अभिगम्य तु योगेन भक्तिं भीष्मस्य माधवः।
त्रैलोक्यदर्शनं ज्ञानं दिव्यं दत्त्वा ययौ हरिः॥

(भीष्मस्तवराज १००-१०१)

'जिनका मन भगवान्में तन्मय हो चुका है ऐसे भीष्मने अनेक प्रकारसे भगवान्की स्तुति करनेके बाद 'नमः कृष्णाय' इतना कहकर भगवान्को प्रणाम किया, तब भगवान् श्रीकृष्ण योगशक्तिद्वारा भीष्मकी भक्तिको समझकर उसे त्रिलोकीको (भगवत्स्वरूप) प्रत्यक्ष करनेवाला दिव्य ज्ञान देकर चले गये।'

अतएव श्रीभगवान्के प्रेममें विभोर होकर उपर्युक्त प्रकारसे भगवान्की वन्दन-भक्ति करनेकी प्राणपर्यन्त चेष्टा करनी चाहिये।

दास्य

सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमंत ।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत ॥

भगवान्‌के गुण, तत्त्व, रहस्य और प्रभावको जानकर श्रद्धा-प्रेमपूर्वक उनकी सेवा करना और उनकी आज्ञाका पालन करना दास्य-भक्ति है ।

मन्दिरोंमें भगवान्‌के विग्रहोंकी सेवा करना, मन्दिर-मार्जनादि करना, मनसे प्रभुके स्वरूपका ध्यान करके उनकी सेवा करना, सम्पूर्ण चराचरको प्रभुका स्वरूप समझकर सबकी यथाशक्ति, यथायोग्य सेवा करना, गीता आदि शास्त्रोंको भगवान्‌की आज्ञा मानकर उसके अनुसार आचरण करना और जो कर्म भगवान्‌की रुचि, प्रसन्नता और इच्छाके अनुकूल हों उन्हीं कर्मोंको करना—ये सब दास्य-भक्तिके प्रकार हैं ।

भगवान्‌के रहस्यको जाननेवाले प्रेमी भक्तोंके सङ्ग और सेवनसे दास्य-भक्तिकी प्राप्ति होती है ।

भगवान्‌में अनन्य प्रेमकी प्राप्ति और नित्य-निरन्तर सेवाके लिये भगवान्‌के समीप रहनेके उद्देश्यसे दास्य-भक्ति की जाती है ।

केवल इस दास्य-भक्तिसे भी मनुष्यको सहज ही भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है । अर्जुनने गीतामें कहा है—

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः ।

यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्॥
(२।७)

'कायरतारूप दोष करके उपहत हुए स्वभाववाला और धर्मके विषयमें मोहितचित्त हुआ मैं आपको पूछता हूँ, जो कुछ निश्चय किया हुआ कल्याणकारक साधन हो वह मेरे लिये कहिये; क्योंकि मैं आपका शिष्य हूँ, इसलिये आपके शरण हुए मेरेको शिक्षा दीजिये।'

भगवान्ने भी कहा है—

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन् सिद्धिमवाप्स्यसि॥
(गीता १२। १०)

'यदि तू अभ्यासमें भी असमर्थ है तो केवल मेरे लिये कर्म करनेके ही परायण हो। इस प्रकार मेरे अर्थ कर्मोंको करता हुआ भी मेरी प्राप्तिरूप सिद्धिको ही प्राप्त होगा।'

गोस्वामी तुलसीदासजी तो कहते हैं कि दास्यभावके बिना भवसागरसे उद्धार ही नहीं हो सकता—

सेवक सेब्य भाव बिनु भव न तरिअ उरगारि।
भजहु राम पद पंकज अस सिद्धांत बिचारि॥

श्रीलक्ष्मण-हनुमान्, अङ्गद आदि इस दास्य-भक्तिके आदर्श उदाहरण हैं। भगवान् श्रीरामके वन जाते समय लक्ष्मणजीकी दशाका वर्णन करते हुए गोसाईंजी कहते हैं—

उतरु न आवत प्रेम बस गहे चरन अकुलाइ।
नाथ दास मैं स्वामि तुम्ह तजहु त काह बसाइ॥

माता सुमित्राने लक्ष्मणको रामके साथ जाकर उनकी सेवा करनेका कैसा सुन्दर उपदेश दिया है—

रागु रोषु इरिषा मदु मोहू। जनि सपनेहु इन्ह के बस होहू॥
सकल प्रकार बिकार बिहाई। मन क्रम बचन करेहु सेवकाई॥
जेहिं न रामु बन लहहिं कलेसू। सुत सोइ करेहु इहइ उपदेसू॥

श्रीहनुमान्‌जीका तो सारा जीवन ही दास्य-भक्तिसे ओतप्रोत है। प्रथम ही ऋष्यमूक पर्वतपर भगवान् श्रीरामचन्द्रजीको पहचानकर हनुमान्‌जी कहते हैं—

एकु मैं मंद मोहबस कुटिल हृदय अग्यान।
पुनि प्रभु मोहि बिसारेउ दीनबंधु भगवान॥

जदपि नाथ बहु अवगुन मोरें। सेवक प्रभुहि परै जनि भोरें॥
नाथ जीव तव मायाँ मोहा। सो निस्तरइ तुम्हारेहिं छोहा॥
सेवक सुत पति मातु भरोसें। रहइ असोच बनइ प्रभु पोसें॥

भगवान् भी अपनी सेवक-वत्सलताका परिचय देते हुए हनुमान्‌को उठाकर हृदयसे लगा लेते हैं और प्रेमाश्रुओंसे उनके अङ्गोंका सिञ्चन करते हुए कहते हैं—

सुनु कपि जियँ मानसि जनि ऊना। तैं मम प्रिय लछिमन ते दूना॥
समदरसी मोहि कह सब कोऊ। सेवक प्रिय अनन्यगति सोऊ॥

दास्य-भक्तिका भक्त अपने स्वामीकी कृपाका कितना विश्वासी होता है, इसके सम्बन्धमें हनुमान्‌जीने विभीषणसे जो कुछ कहा है वह स्मरण रखने योग्य है-

सुनहु बिभीषन प्रभु कै रीती। करहिं सदा सेवक पर प्रीती॥
कहहु कवन मैं परम कुलीना। कपि चंचल सबही बिधि हीना॥
अस मैं अधम सखा सुनु मोहू पर रघुबीर।
कीन्ही कृपा सुमिरि गुन भरे बिलोचन नीर॥

अङ्गदजीको जब भगवान् श्रीराम अयोध्यासे लौट जानेको कहते हैं तब अङ्गदजी भगवान्से प्रार्थना करते हैं—

मोरें तुम्ह प्रभु गुर पितु माता। जाउँ कहाँ तजि पद जलजाता॥
तुम्हहि बिचारि कहहु नरनाहा। प्रभु तजि भवन काज मम काहा॥
बालक ग्यान बुद्धि बल हीना। राखहु सरन नाथ जन दीना॥
नीचि टहल गृह कै सब करिहउँ। पद पंकज बिलोकि भव तरिहउँ॥

ऐसे अनेकों उदाहरण हैं, अतएव सबको चाहिये कि भगवान्के प्रेममें विह्वल होकर तन-मन-धन सब कुछ अर्पण करके भगवान्की दास्य-भक्ति करें।

सख्य

अहो भाग्यमहो भाग्यं नन्दगोपव्रजौकसाम्।
यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णं ब्रह्म सनातनम्॥

(श्रीमद्भा० १०।१४।३२)

'उन नन्दगोपके व्रजमें रहनेवाले लोगोंका भाग्य धन्य है! धन्य है! जिनका मित्र परमानन्द परिपूर्ण सनातन ब्रह्म है।'

भगवान्के प्रभाव, तत्त्व, रहस्य और महिमाको समझकर परम विश्वासपूर्वक मित्रभावसे उनकी रुचिके अनुसार बन जाना, उनमें अनन्य प्रेम करना और उनके गुण, रूप और लीलापर मुग्ध होकर नित्य-निरन्तर प्रसन्न रहना सख्य-भक्ति है।

अपने आवश्यक-से-आवश्यक कामको छोड़कर प्यारे प्रेमीके कामको आदरपूर्वक करना, प्यारे प्रेमीके कामके सामने अपने कामको तुच्छ समझकर उससे लापरवाह हो जाना, प्यारे प्रेमीके लिये महान् परिश्रम करनेपर भी उसे अल्प ही समझना, प्यारा जिस बातसे प्रसन्न होता हो उसी बातको लक्ष्यमें रखकर हर समय उसीके लिये प्राणपर्यन्त चेष्टा करना, वह जो कुछ भी करे उसीमें सदा सन्तुष्ट रहना, अपनी कोई भी वस्तु किसी भी प्रकारसे प्रेमीके काम आ जाय तो परम प्रसन्न होना, अपने शरीरपर और अपनी वस्तुपर जैसी अपनी आत्मीयता और अधिकार है वैसा ही अपने प्यारे प्रेमीका समझे और इसी प्रकार उसकी वस्तु और शरीरपर अपना अधिकार और आत्मीयता माने, अपने धन, जीवन और देहादि प्यारे प्रेमीके काममें लग सकें तो उनको सफल समझना, उसके साथ रहनेकी निरन्तर इच्छा रखना, उसके दर्शन, भाषण, चिन्तन और स्पर्शसे प्रेममें निमग्न हो जाना, उसके नाम, रूप, गुण और चरित्रोंको सुनकर, कहकर, पढ़कर और यादकर अत्यन्त प्रसन्न होना, किसीके द्वारा मित्रका सन्देश पाकर परम प्रसन्न होना और उसके वियोगमें व्याकुल होना तथा प्रतिक्षण उससे मिलनेकी आशा और प्रतीक्षा करते रहना आदि सखाभावके प्रकार हैं।

प्यारे प्रेमीको परम सुख हो, उसमें अपना सख्यप्रेम पूर्णरूपसे बढ़ जाय और उससे अपना कभी वियोग न हो इसी उद्देश्यसे सख्य-भक्ति की जाती है।

सख्य-भक्तिकी प्राप्तिके लिये भगवान्‌के प्रेमी सखाओंका सङ्ग, सेवन, उनके जीवन-चरित्रोंका अध्ययन और उनके तथा भगवान्‌के गुण, लीला और प्रभावका उनके प्रेमी भक्तोंद्वारा श्रवण करना चाहिये।

इस प्रकारकी केवल सख्य-भक्तिसे भी मनुष्यके दुःख और दोषोंका अत्यन्त अभाव होकर भगवान्‌की प्राप्ति और भगवान्‌में परम प्रेम हो जाता है। यहाँतक कि भगवान् उस प्रेमी भक्तके अधीन हो जाते हैं और फिर उसके आनन्द और शान्तिका पार नहीं रहता।

मित्रका मित्रके प्रति क्या कर्तव्य होना चाहिये, इस विषयपर भगवान् श्रीराम सखा सुग्रीवसे कहते हैं—

जे न मित्र दुख होहिं दुखारी। तिन्हहि बिलोकत पातक भारी॥
निज दुख गिरि सम रज करि जाना। मित्रक दुख रज मेरु समाना॥
जिन्ह कें असि मति सहज न आई। ते सठ कत हठि करत मिताई॥
कुपथ निवारि सुपंथ चलावा। गुन प्रगटै अवगुनन्हि दुरावा॥
देत लेत मन संक न धरई। बल अनुमान सदा हित करई॥
बिपति काल कर सतगुन नेहा। श्रुति कह संत मित्र गुन एहा॥

इस सख्य-भक्तिके उदाहरण श्रीविभीषण, सुग्रीव, उद्धव, अर्जुन, सुदामा, श्रीदामादि व्रजसखा आदि हैं।

लंका-विजयके बाद विभीषण चाहते हैं—भगवान् एक बार मेरे घर पधारकर मुझे कृतार्थ करें और भगवान्‌से इसके लिये प्रार्थना करते हैं। सखाकी बात सुनकर भगवान् प्रेमविभोर हो जाते हैं, उनके नेत्रोंमें प्रेमाश्रु आ जाते हैं और कहते हैं—भाई! तुम्हारा

सब कुछ मेरा है, परन्तु इस समय भरतकी दशाका स्मरण करके मै ठहर नहीं सकता ।

> तोर कोस गृह मोर सब सत्य बचन सुनु भ्रात ।
> भरत दसा सुमिरत मोहि निमिष कल्प सम जात ॥

सुग्रीवके साथ सख्य स्थापित करके भगवान् अपनी प्राणप्रिया सीताको भूल जाते हैं और पहले सुग्रीवकी चिन्तामें लग जाते हैं ।

> तिय बिरही सुग्रीव सखा, लखि प्रानप्रिया बिसराई ॥

और सुग्रीवसे आप कहते हैं—

> सखा सोच त्यागहु बल मोरें । सब बिधि घटब काज मैं तोरें ॥

उद्धवके साथ भगवान् इतना प्रेम करते थे कि एक बार उनसे बोले—'भैया उद्धव ! तुम-जैसे प्रेमी मुझको जितने प्यारे हैं उतने प्यारे मुझे ब्रह्मा, शङ्कर, संकर्षण, लक्ष्मी और अपनी आत्मा भी नहीं है ।'

> न तथा मे प्रियतम आत्मयोनिर्न शङ्करः ।
> न च सङ्कर्षणो न श्रीर्नैवात्मा च यथा भवान् ॥
> (श्रीमद्भा० ११ । १४ । १५)

उद्धवजीका भगवान् श्रीकृष्णसे बहुत गहरा सख्य प्रेम था, इसीसे भगवान् उनके सामने मनकी कोई बात छिपाते नहीं थे । अपनी परम प्रेमिका गोपियोंको सन्देश भेजनेके लिये भगवान् श्रीकृष्ण उद्धवको ही सर्वोत्तम पात्र चुनते हैं । उस समयके वर्णनमें श्रीशुकदेवजी कहते हैं—

> वृष्णीनां प्रवरो मन्त्री कृष्णस्य दयितः सखा ।
> शिष्यो बृहस्पतेः साक्षादुद्धवो बुद्धिसत्तमः ॥

तमाह भगवान् प्रेष्ठं भक्तमेकान्तिनं क्वचित् ।
गृहीत्वा पाणिना पाणिं प्रपन्नार्तिहरो हरिः ॥
गच्छोद्धव व्रजं सौम्य पित्रोर्नौ प्रीतिमावह ।
गोपीनां मद्वियोगाधिं मत्सन्देशैर्विमोचय ॥
(श्रीमद्भा० १० । ४६ । १-३)

'यदुवंशियोंके श्रेष्ठ मन्त्री, बृहस्पतिके साक्षात् शिष्य एवं अत्यन्त बुद्धिमान् उद्धव भगवान् श्रीकृष्णके परम प्रिय सखा थे । शरणागतका दुःख दूर करनेवाले भगवान् श्रीकृष्णने एक दिन उस अनन्य एवं अत्यन्त प्रिय भक्त उद्धवका हाथसे हाथ पकड़कर कहा—प्यारे उद्धव ! तुम व्रजमें जाकर मेरी माता एवं पिताको प्रसन्न करो तथा मेरे सन्देशोंके द्वारा गोपियोंको वियोगके रोगसे मुक्त करो ।'

अर्जुनके सख्यभावकी तो भगवान् स्वयं घोषणा करते हैं—भक्तोऽसि मे सखा चेति'—तुम मेरे भक्त और सखा हो (गीता ४ । ३); 'इष्टोऽसि मे दृढमिति'—तुम मेरे परम प्यारे हो (गीता १८ । ६४) ।

अश्वत्थामाके द्वारा उत्तराके गर्भस्थ बालक परीक्षित्‌के मारे जानेपर भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—यदि यह सत्य है कि मैंने अपनी जानमें अर्जुनसे कभी भी मित्रतामें कोई बाधा नहीं आने दी है तो यह मरा हुआ बालक जी उठे ।

यथाहं नाभिजानामि विजयेन कदाचन ।
विरोधं तेन सत्येन मृतो जीवत्वयं शिशुः ॥
(महा० अश्वमेध० ६९ । २१)

मित्र सुदामाको देखकर भगवान् कैसे प्रेमविह्वल हो जाते हैं और किस प्रकार सुदामाका आदर करते हैं, इस प्रसङ्गमें श्रीशुकदेवजी लिखते हैं—

> सख्युः प्रियस्य विप्रर्षेरङ्गसङ्गातिनिर्वृतः ।
> प्रीतो व्यमुञ्चदब्बिन्दून् नेत्राभ्यां पुष्करेक्षणः ॥
> अथोपवेश्य पर्यङ्के स्वयं सख्युः समर्हणम् ।
> उपहृत्यावनिज्यास्य पादौ पादावनेजनीः ॥
> अग्रहीच्छिरसा राजन् भगवाँल्लोकपावनः ।
> व्यलिम्पद् दिव्यगन्धेन चन्दनागुरुकुङ्कुमैः ॥
>
> (श्रीमद्भा० १० । ८० । १९—२१)

'कमलनयन भगवान् श्रीकृष्ण अपने प्रिय सखा ब्रह्मर्षि सुदामाके अङ्गस्पर्शसे अत्यन्त हर्षित हुए एवं उनके नेत्रोंसे प्रेमाश्रु बहने लगे । इसके बाद उन्हें शय्यापर बैठाकर स्वयं भगवान्‌ने अपने हाथों उनके चरण धोये और उनकी पूजा की । लोकपावन भगवान्‌ने उनका चरणोदक अपने सिरपर रक्खा और उनके शरीरपर दिव्य गन्ध, चन्दन, अगुरु और कुङ्कुम आदि लगाया ।'

इस भगवान्‌के परम प्यारे सखाओंकी तो बात ही क्या है, भीलोंका राजा गुह भी भगवान्‌से सख्य करके संसार-सागरसे तर गया ।

अतएव भगवान्‌को ही अपना एकमात्र परम प्रियतम समझकर अपना सर्वस्व उनको मानकर परम प्रेमभावसे सख्य-भक्ति करनी चाहिये ।

आत्मनिवेदन

वासुदेवाश्रयो मर्त्यो वासुदेवपरायणः ।
सर्वपापविशुद्धात्मा याति ब्रह्म सनातनम् ॥
(वि० स० १३०)

'जिस मनुष्यने भगवान् वासुदेवका आश्रय लिया है और जो उन्हींके परायण है उसका अन्तःकरण सर्वथा शुद्ध हो जाता है एवं वह सनातन ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है ।'

परमात्माके तत्त्व, रहस्य, प्रभाव और महिमाको समझकर ममता और अहंकाररहित होकर अपने तन-मन-धन-जनसहित अपने आपको और सम्पूर्ण कर्मोंको श्रद्धा और परम प्रेमपूर्वक परमात्माको समर्पण कर देना आत्मनिवेदन-भक्ति है ।

हानि-लाभ, जय-पराजय, यश-अपयश, मान-अपमान, सुख-दुःख आदिकी प्राप्तिमें उन्हें भगवान्‌का भेजा हुआ पुरस्कार मानकर प्रसन्न रहना; तन-धन, स्त्री-पुत्र आदि सभीमें ममता और अहंकारका अभाव हो जाना; भगवान् यन्त्री हैं और मैं उनके हाथका यन्त्र हूँ, ऐसा निश्चय करके कठपुतलीकी भाँति भगवान्‌के इच्छानुकूल ही सब कुछ करना; भगवान्‌के रहस्य और प्रभावको जाननेके लिये उनके नाम, रूप, गुण, लीलाके श्रवण, मनन, कथन, अध्ययन और चिन्तनादिमें श्रद्धा-भक्तिपूर्वक तन-मन आदिको लगा देना; इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि सभीपर एकमात्र भगवान्‌का ही अधिकार समझना, भगवान्‌की ही वस्तु भगवान्‌के अर्पण की गयी है ऐसा भाव होना; जिस किसी भी प्रकारसे भगवान्‌की सेवा बनती रहे इसीमें आनन्द मानना, सब कुछ प्रभुके अर्पण

करके स्वाद, शौक, विलास, आराम, भोग आदिकी इच्छाका सर्वथा अभाव हो जाना; सर्वत्र, सर्वदा और सर्वथा एक भगवान्‌का ही अनुभव करना, भगवान्‌की इच्छाके अतिरिक्त स्वतन्त्र कोई इच्छा न करना, भगवान्‌के भरोसेपर सदा निर्भय, निश्चिन्त और प्रसन्न रहना और भगवान्‌की भक्तिको छोड़कर मुक्तिकी भी इच्छा न होना आदि सभी इस आत्मनिवेदन-भक्तिके प्रकार हैं।

भगवान्‌में अनन्य परम प्रेम और भगवान्‌की प्राप्तिके लिये यह आत्मनिवेदन-भक्ति की जाती है।

भगवान्‌के शरणागत प्रेमी भक्तोंका सङ्ग-सेवन करनेसे और उनके द्वारा भगवान्‌के नाम, रूप, गुण, प्रभाव, तत्त्व, महिमा आदिका श्रवण और मनन करनेसे यह भक्ति प्राप्त होती है।

भगवान्‌ने स्वयं इस आत्मनिवेदनरूपा शरणभक्तिका महत्त्व प्रकट करते हुए इसके परम फलकी गीतामें बड़ी प्रशंसा की है। आप कहते हैं—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥
(७। १४)

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥
(९। ३२)

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः॥
(९। ३४)

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥
(१८। ६२)

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥
(१८। ६६)

'यह अलौकिक अर्थात् अति अद्भुत त्रिगुणमयी मेरी योग-माया बड़ी ही दुस्तर है, परन्तु जो पुरुष मेरेको ही निरन्तर भजते हैं यानी मेरी शरण आते हैं वे इस मायाको उल्लङ्घन कर जाते हैं अर्थात् संसारसे तर जाते हैं।'

'हे अर्जुन! स्त्री, वैश्य और शूद्रादिक तथा पापयोनिवाले भी जो कोई होवें वे भी मेरे शरण होकर तो परम गतिको ही प्राप्त होते हैं।'

'केवल मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेव परमात्मामें ही अनन्य प्रेमसे नित्य-निरन्तर अचल मनवाला हो और मुझ परमेश्वरको ही श्रद्धा-प्रेम-सहित निष्काम भावसे नाम, गुण और प्रभावके श्रवण, कीर्तन, मनन और पठन-पाठनद्वारा निरन्तर भजनेवाला हो तथा मन, वाणी और शरीर-के द्वारा सर्वस्व अर्पण करके अतिशय श्रद्धा, भक्ति और प्रेमसे विह्वलता-पूर्वक मेरा पूजन करनेवाला हो और मुझ सर्वशक्तिमान्, विभूति, बल, ऐश्वर्य, माधुर्य, गम्भीरता, उदारता, वात्सल्य और सुहृदता आदि गुणोंसे सम्पन्न, सबके आश्रयरूप वासुदेवको विनयभावपूर्वक भक्तिसहित

साष्टाङ्ग दण्डवत्-प्रणाम कर । इस प्रकार मेरे शरण हुआ तू आत्माको मेरेमें एकीभाव करके मेरेको ही प्राप्त होवेगा ।'

'हे भारत ! सब प्रकारसे उस परमेश्वरकी ही अनन्य-शरणको प्राप्त हो, उस परमात्माकी कृपासे ही परम शान्तिको और सनातन परमधामको प्राप्त होगा ।'

'सर्व धर्मोंको अर्थात् सम्पूर्ण कर्मोंके आश्रयको त्याग कर केवल एक मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेव परमात्माकी ही अनन्य शरणको प्राप्त हो, मैं तेरेको सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा, तू शोक मत कर ।'

इस प्रकार जो पुरुष भगवान्‌के प्रति आत्मनिवेदन कर देता है उसके सम्पूर्ण अवगुण, पाप और दुःखोंका अत्यन्त नाश हो जाता है और उसमें श्रवण-कीर्तनादि सभी भक्तियोंका विकास हो जाता है । उसके आनन्द और शान्तिका पार नहीं रहता । भगवान् उससे फिर कभी अलग नहीं हो सकते । भगवान्‌का सर्वस्व उसका हो जाता है । वह परम पवित्र हो जाता है; उसके दर्शन, भाषण और चिन्तनसे भी पापात्मालोग पवित्र हो जाते हैं । वह तीर्थोंके लिये तीर्थरूप बन जाता है । महाराज परीक्षित् श्रीशुकदेवजीसे कहते हैं—

सान्निध्यात्ते महायोगिन् पातकानि महान्त्यपि ।
सद्यो नश्यन्ति वै पुंसां विष्णोरिव सुरेतराः ॥

(श्रीमद्भा० १ । १९ । ३४)

'जैसे भगवान् विष्णुके सान्निध्यमात्रसे तुरंत दैत्योंका नाश हो जाता है, वैसे ही हे महायोगिन् ! आपके सान्निध्यमात्रसे बड़े-से-बड़े पापसमूह नष्ट हो जाते हैं ।'

धर्मराज युधिष्ठिर श्रीविदुरजीसे कहते हैं—

भवद्विधा भागवतास्तीर्थभूताः स्वयं विभो।
तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि स्वान्तःस्थेन गदाभृता॥

(श्रीमद्भा० १।१३।१०)

'भगवन् ! आप-जैसे भगवद्भक्त स्वयं तीर्थस्वरूप हैं, वे अपने हृदयमें स्थित भगवान्‌के द्वारा तीर्थोंको तीर्थ बनाते हैं।'

प्रचेतागण भगवान्‌की स्तुति करते हुए कहते हैं—

तेषां विचरतां पद्भ्यां तीर्थानां पावनेच्छया।
भीतस्य किं न रोचेत तावकानां समागमः॥

(श्रीमद्भा० ४।३०।३७)

'जो तुम्हारे भक्त तीर्थोंको पावन बनानेके लिये भूतलपर विचरते रहते हैं, भला, संसारसे भयभीत हुए किस मनुष्यको उनका समागम न रुचेगा।'

श्रीशुकदेवजी महाराज भगवान्‌की स्तुति करते हुए कहते हैं—

किरातहूणान्ध्रपुलिन्दपुल्कसा
आभीरकङ्का यवनाः खसादयः।
येऽन्ये च पापा यदुपाश्रयाश्रयाः
शुध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः॥

(श्रीमद्भा० २।४।१८)

'जिनके आश्रित भक्तोंका आश्रय लेकर किरात, हूण, आन्ध्र,

भील, कसाई, आभीर, कंक, यवन, खस आदि तथा अन्य बड़े-से-बडे पापी भी शुद्ध हो जाते हैं उन भगवान्‌के चरणोंमें नमस्कार है।'

भगवान्‌के प्रेमका मूर्तिमान् विग्रह बने हुए ऐसे भक्तको सारा संसार परम प्रेममय और परम आनन्दमय प्रतीत होने लगता है। वह जिस मार्गसे जाता है उसी मार्गमें श्रद्धा, प्रेम, भक्ति, आनन्द, समता और शान्तिका प्रवाह बहने लगता है। ऐसे भक्तको अपने ऊपर धारणकर धरणी धन्य और सनाथ होती है। पितरगण प्रमुदित हो जाते हैं और देवता नाचने लगते हैं।

मोदन्ते पितरो नृत्यन्ति देवताः सनाथा चेयं भूर्भवति।

(नारद-भक्तिसूत्र ७१)

श्रीगोपियाँ, भक्त प्रह्लाद, महाराजा बलि आदि इस आत्म-निवेदन-भक्तिके परम भक्त हुए हैं।

इसलिये मनुष्यमात्रको मन, वाणी, शरीरसे सब प्रकारसे श्रीभगवान्‌के शरण होनेके लिये कटिबद्ध होकर प्रयत्न करना चाहिये।

उपसंहार

भगवान्‌को प्राप्त करनेके लिये कर्म, योग, ज्ञान—सभी मार्ग उत्तम हैं, परन्तु भक्तिकी तो शास्त्रोंमें बड़ी ही प्रशंसा की गयी है। नवधा भक्तिमेंसे जिनमें एक भी भक्ति होती है वह संसारसागरसे अनायास तर-कर भगवान्‌को पा जाता है, फिर प्रह्लादकी भाँति जिनमें नवों भक्तियोंका विकास है, उनका तो कहना ही क्या है। ऊपर नवों भक्तियोंके वर्णनमें

जिन-जिन भक्तोंके नाम उदाहरणमें दिये गये हैं उनमें केवल एक ही भक्तिका विकास था ऐसी बात नहीं है। जिनमें जिस भावकी प्रधानता थी उनका उसीमें नाम लिखा गया है। दुबारा नाम न आनेका भी खयाल रक्खा गया है। वस्तुतः वे लोग धन्य हैं जो भगवान्‌की भक्तिमें अपना मन लगाते हैं और वे कुल धन्य हैं जिनमें भगवान्‌के भक्त उत्पन्न होते हैं। भगवान् श्रीशिव जी पार्वतीसे कहते हैं—

सो कुल धन्य उमा सुनु जगत पूज्य सुपुनीत।
श्रीरघुबीर परायन जेहिं नर उपज बिनीत॥

श्रीमद्भागवतमें श्रवणादि भक्तिकी महिमामें कहा है—

शृण्वन्ति गायन्ति गृणन्त्यभीक्ष्णशः
स्मरन्ति नन्दन्ति तवेहितं जनाः।
त एव पश्यन्त्यचिरेण तावकं
भवप्रवाहोपरमं पदाम्बुजम्॥
(१।८।३६)

यत्कीर्तनं यत्स्मरणं यदीक्षणं
यद्वन्दनं यच्छ्रवणं यदर्हणम्।
लोकस्य सद्यो विधुनोति कल्मषं
तस्मै सुभद्रश्रवसे नमो नमः॥
(२।४।१५)

'जो लोग बारंबार तुम्हारे चरित्रोंका श्रवण, गायन, वर्णन एवं स्मरण करते हैं और आनन्दमग्न होते रहते हैं वे ही शीघ्राति-शीघ्र संसारके प्रवाहको शान्त कर देनेवाले आपके चरणकमलोंका दर्शन पाते हैं।'

'जिनका कीर्तन, स्मरण, दर्शन, वन्दन, श्रवण एवं पूजन लोगोंके समस्त पापोंको तुरत धो डालता है उन कल्याणमयी कीर्तिवाले भगवान्‌को बारंबार नमस्कार है।'

देवराज इन्द्र कहते हैं—

यस्य भक्तिर्भगवति हरौ निःश्रेयसेश्वरे।
विक्रीडतोऽमृताम्भोधौ किं क्षुद्रैः खातकोदकैः॥

(श्रीमद्भा० ६। १२। २२)

'परम कल्याणके स्वामी भगवान् श्रीकृष्णमें जिनका प्रेम है वे तो अमृतके समुद्रमें क्रीड़ा कर रहे हैं, उन्हें तुच्छ विषयरूप गड्ढेके जलोंसे क्या प्रयोजन है?'

भगवान् स्वयं अपनी तरन-तारिनी भक्तिकी प्रशंसा करते हुए उद्धवजीसे कहते हैं—

न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता॥
भक्त्याहमेकया ग्राह्यः श्रद्धयाऽऽत्मा प्रियः सताम्।
भक्तिः पुनाति मन्निष्ठा श्वपाकानपि सम्भवात्॥
धर्मः सत्यदयोपेतो विद्या वा तपसान्विता।
मद्भक्त्यापेतमात्मानं न सम्यक् प्रपुनाति हि॥
वाग्गद्गदा द्रवते यस्य चित्तं
रुदत्यभीक्ष्णं हसति क्वचिच्च।
विलज्ज उद्गायति नृत्यते च
मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति॥

(श्रीमद्भा० ११। १४। २०—२२, २४)

'हे उद्धव ! मैं जिस प्रकार अनन्य भक्तिसे प्रसन्न होता हूँ उस प्रकार योग, सांख्य, धर्म, स्वाध्याय, तपस्या, त्याग आदिसे प्रसन्न नहीं होता। संतोंका परम प्रिय आत्मारूप मैं एकमात्र श्रद्धा-भक्तिसे ही प्रसन्न होता हूँ। मेरी भक्ति जन्मतः चाण्डालोंको भी पवित्र कर देती है। मेरी भक्तिसे रहित जीवको सत्य और दया आदिसे युक्त धर्म तथा तपस्यायुक्त विद्या भी पूर्णतः पवित्र नहीं कर सकती।'

'जिसकी वाणी मेरे नाम, गुण और लीलाका वर्णन करती-करती गद्गद हो जाती है, जिसका चित्त मेरे रूप, गुण, प्रभाव और लीलाओंको याद करते-करते द्रवित हो जाता है, जो बारंबार रोता रहता है और कभी-कभी हँसने लग जाता है एवं जो लज्जा छोड़कर प्रेममें मग्न हुआ पागलकी भाँति ऊँचे स्वरसे गायन करता है और नाचने लग जाता है, ऐसा मेरा भक्त संसारको पवित्र कर देता है।'

भगवान् गीताजीमें अर्जुनसे कहते हैं—

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा॥
भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥

(११।५३-५४)

'हे अर्जुन ! न वेदोंसे, न तपसे, न दानसे और न यज्ञसे इस प्रकार चतुर्भुज रूपवाला मैं देखा जानेको शक्य हूँ जैसे मेरेको तुमने देखा। परन्तु हे श्रेष्ठ तपवाले अर्जुन ! अनन्य भक्ति करके तो इस प्रकार चतुर्भुज

रूपवाला मैं प्रत्यक्ष देखनेके लिये और तत्त्वसे जाननेके लिये तथा प्रवेश करनेके लिये अर्थात् एकीभावसे प्राप्त होनेके लिये भी शक्य हूँ ।'

भक्त श्रीकाकभुशुण्डिजी कहते हैं—

राम भगति चिंतामनि सुंदर । बसइ गरुड़ जाके उर अंतर ॥
परम प्रकास रूप दिन राती । नहिं कछु चहिअ दिआ घृत बाती ॥
मोह दरिद्र निकट नहिं आवा । लोभ बात नहिं ताहि बुझावा ॥
प्रबल अबिद्या तम मिटि जाई । हारहिं सकल सलभ समुदाई ॥
खल कामादि निकट नहिं जाहीं । बसइ भगति जाके उर माहीं ॥
गरल सुधासम अरि हित होई । तेहि मनि बिनु सुख पाव न कोई ॥
ब्यापहिं मानस रोग न भारी । जिन्ह के बस सब जीव दुखारी ॥
राम भगति मनि उर बस जाकें । दुख लवलेस न सपनेहुँ ताकें ॥
चतुर सिरोमनि तेइ जग माहीं । जे मनि लागि सुजतन कराहीं ॥

अतएव सब लोगोंको उपर्युक्त सब प्रकारसे भगवान्‌की भक्तिका आश्रय ग्रहण करके जीवन और जन्मको सफल करना चाहिये ।

॥ श्रीहरिः ॥

श्रीभरतजीमें नवधा भक्ति

श्रीमद्भागवतमें वर्णित नवधा भक्तिके आदर्श श्रीप्रह्लादजी थे। जब हिरण्यकशिपुने पूछा कि तुमने गुरुजीसे इतने कालतक जो कुछ पढ़ा है, उन पढ़े हुए पाठोंमें जिसको तुम सबसे श्रेष्ठ समझते हो, उसे सुनाओ; तब श्रीप्रह्लादजीने कहा—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥
इति पुंसार्पिता विष्णौ भक्तिश्चेन्नवलक्षणा।
क्रियते भगवत्यद्धा तन्मन्येऽधीतमुत्तमम्॥

(श्रीमद्भा० ७।५।२३-२४)

'भगवान् श्रीविष्णुके नाम, रूप, गुण और प्रभावादिका श्रवण, कीर्तन और स्मरण तथा भगवान्‌की चरण-सेवा, पूजन और वन्दन एवं भगवान्‌में दासभाव, सखाभाव और अपनेको समर्पण कर देनेका भाव—यह नौ प्रकारकी भक्ति है। यदि मनुष्यके द्वारा इस तरह यह नौ प्रकारकी भक्ति भगवान् श्रीविष्णुके प्रति की जाय तो मैं उसको निश्चय ही उत्तम अध्ययन समझता हूँ।'

श्रीप्रह्लादजीके द्वारा कथित नवधा भक्तिके ये सारे-के-सारे प्रकार परम प्रेमी अनन्य भक्त श्रीभरतजीमें प्राप्त होते हैं। भरतजी सदाचार-सद्‌गुणसम्पन्न, ज्ञानवान्, विरक्त, त्यागी एवं भगवान्‌के अनन्य विशुद्ध निष्काम प्रेमी भक्त थे। श्रीतुलसीदासजीने अपने रामचरितमानसमें उनकी महिमाका जगह-जगह मुक्तकण्ठसे गान किया

है। श्रीरामचरितमानसमें जहाँ भी भरतजीका चरित्र आया है, उसको पढ़नेसे यदि पाठकके हृदयमें थोड़ा भी प्रेम हो तो उसका हृदय गद्‌गद हो जाता है और अश्रुपात होने लगते हैं।

भरतजीकी महिमाके वर्णनमें श्रीतुलसीदासजीने स्वयं कहा है—

भरत प्रेमु तेहि समय जस तस कहि सकइ न सेषु।
कबिहि अगम जिमि ब्रह्मसुखु अह मम मलिन जनेषु॥

× × ×

भरत प्रीति नति बिनय बड़ाई। सुनत सुखद बरनत कठिनाई॥

× × ×

भरत रहनि समुझनि करतूती। भगति बिरति गुन बिमल बिभूती॥
बरनत सकल सुकबि सकुचाहीं। सेस गनेस गिरा गमु नाहीं॥

× × ×

सिय राम प्रेम पियूष पूरन होत जनमु न भरत को।
मुनि मन अगम जम नियम सम दम बिषम ब्रत आचरत को॥
दुख दाह दारिद दंभ दूषन सुजस मिस अपहरत को।
कलिकाल तुलसी से सठन्हि हठि राम सनमुख करत को॥

श्रीजनकजी तो भरतजीके चरित्र, गुण, भक्ति और प्रेमभावको देखकर मुग्ध ही हो गये। चित्रकूटमें वे अपनी पत्नी रानी सुनयनासे कहते हैं—

सावधान सुनु सुमुखि सुलोचनि। भरत कथा भव बंध बिमोचनि॥
धरम राजनय ब्रह्मबिचारू। इहाँ जथामति मोर प्रचारू॥
सो मति मोरि भरत महिमाही। कहै काह छलि छुअति न छाँही॥
बिधि गनपति अहिपति सिव सारद। कबि कोबिद बुध बुद्धि बिसारद॥
भरत चरित कीरति करतूती। धरम सील गुन बिमल बिभूती॥
समुझत सुनत सुखद सब काहू। सुचि सुरसरि रुचि निदर सुधाहू॥

****

× × ×

भरत अमित महिमा सुनु रानी। जानहिं रामु न सकहिं बखानी॥

× × ×

देबि परंतु भरत रघुबर की। प्रीति प्रतीति जाइ नहिं तरकी॥
भरतु अवधि सनेह ममता की। जद्यपि रामु सीम समता की॥
परमारथ स्वारथ सुख सारे। भरत न सपनेहुँ मनहुँ निहारे॥
साधन सिद्धि राम पग नेहू। मोहि लखि परत भरत मत एहू॥

भरतजी महाराज प्रेममयी भक्तिके अगाध सागर थे, या यों कहिये कि वे साक्षात् प्रेमकी मूर्ति ही थे। जहाँ-कहीं भरतजीका चरित्र देखते हैं, वहीं प्रेमका समुद्र लहराता दीखता है। इसके सिवा, वे सद्गुण-सदाचारमें भी अद्वितीय थे। जिनके गुण, चरित्र, स्वभाव और प्रेमको देखकर श्रीरामचन्द्रजी भी मुग्ध हो गये। वे कहते हैं—

तात भरत तुम्ह धरम धुरीना। लोक बेद बिद प्रेम प्रबीना॥
करम बचन मानस बिमल तुम्ह समान तुम्ह तात।
गुर समाज लघु बंधु गुन कुसमयँ किमि कहि जात॥

भरतजीकी महिमा कहाँतक बतलायी जाय? उनकी महिमा रामायणमें भरी पड़ी है। यहाँ तो केवल संक्षेपमें कुछ दिग्दर्शन कराया गया है। लेखका कलेवर न बढ़ जाय, इसलिये अधिक प्रमाण उद्धृत नहीं किये गये।

अब भक्तिके उपर्युक्त नौ प्रकार श्रीभरतजीके जीवन-चरित्रमें जिस प्रकार घटित हुए हैं, इसका महाभारत, श्रीरामचरितमानस, पद्मपुराण, वाल्मीकिरामायण, अध्यात्मरामायण आदि ग्रन्थोंके आधारपर कुछ दिग्दर्शन कराया जाता है।

(१) श्रवण-भक्ति

भगवान्‌के प्रेमी भक्तोंके द्वारा कथित भगवान्‌के नाम, रूप, गुण, प्रभाव, लीला, तत्त्व और रहस्यसे पूर्ण अमृतमयी कथाओंका श्रद्धा और प्रेमपूर्वक श्रवण करना एवं उन अमृतमयी कथाओंका श्रवण करके प्रेममें मुग्ध हो जाना श्रवण-भक्तिका स्वरूप है।

ये लक्षण श्रीभरतजीमें प्रत्यक्ष दीखते हैं। श्रीभगवान्‌के गुण, चरित्र, प्रेम और प्रभावको सुन-सुनकर भरतजी मुग्ध होते थे। जिस समय हनुमान्‌जी भगवान्‌का विजय-संदेश सुनाने भरतजीके पास नन्दिग्राममें पहुँचे, तब हनुमान्‌जीके द्वारा इस शुभ संदेशके सुनते ही भरतजीकी बड़ी ही अद्भुत दशा हो गयी।

उस अवस्थाका वर्णन करते हुए श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

सुनत बचन बिसरे सब दूखा। तृषावंत जिमि पाइ पियूषा॥

× × ×

मिलत प्रेम नहिं हृदयँ समाता। नयन स्त्रवत जल पुलकित गाता॥
कपि तव दरस सकल दुख बीते। मिले आजु मोहि राम पिरीते॥
बार बार बूझी कुसलाता। तो कहुँ देउँ काह सुनु भ्राता॥
एहि संदेस सरिस जग माहीं। करि बिचार देखेउँ कछु नाहीं॥
नाहिन तात उरिन मैं तोही। अब प्रभु चरित सुनावहु मोही॥
तब हनुमंत नाइ पद माथा। कहे सकल रघुपति गुन गाथा॥

वाल्मीकीय रामायणमें भरतजी हनुमान्‌जीसे कहते हैं—

बहूनि नाम वर्षाणि गतस्य सुमहद्वनम्।
शृणोम्यहं प्रीतिकरं मम नाथस्य कीर्तनम्॥

(युद्ध० १२६।१)

'भगवान् श्रीरामचन्द्रजीको उस महान् वनमें गये बहुत-से वर्ष

व्यतीत हो गये, किंतु उसके बाद आज ही मैं, मेरे स्वामीका प्रीतिकारक कीर्तन (संदेश) सुन रहा हूँ।'

ऐसा ही श्लोक कुछ पाठभेदसे अध्यात्मरामायणमें भी मिलता है। इसके बाद वहाँ बतलाया है—

एवमुक्तोऽथ हनुमान् भरतेन महात्मना ॥
आचचक्षेऽथ रामस्य चरितं कृत्स्नशः क्रमात्।
श्रुत्वा तु परमानन्दं भरतो मारुतात्मजात् ॥

(युद्ध० १४ । ६५-६६)

'इसके पश्चात् महात्मा भरतजीके इस प्रकार कहनेपर हनुमान्‌जीने श्रीरामचन्द्रजीका क्रमशः सम्पूर्ण चरित्र सुना दिया। पवनकुमार हनुमान्‌जीसे वह सब चरित्र सुनकर श्रीभरतजीको अत्यन्त आनन्द हुआ।'

उस समयकी भरतजीकी अवस्थाका वर्णन करते हुए महर्षि वाल्मीकिजी कहते हैं—

ततः स वाक्यैर्मधुरैर्हनूमतो निशम्य हृष्टो भरतः कृताञ्जलिः।
उवाच वाणीं मनसः प्रहर्षिणीं चिरस्य पूर्णः खलु मे मनोरथः ॥

(वा० रा०, युद्ध० १२६ । ५५)

'इसके अनन्तर हनुमान्‌जीके उन मधुर वचनोंको श्रवण करके भरतजी बड़े ही प्रसन्न हुए। वे हाथ जोड़कर मनको अतिशय हर्षित करनेवाली वाणी बोले—'अहो ! आज मेरा बहुत दिनोंका मनोरथ पूर्ण हो गया।'

जिस समय भगवान् श्रीरामका राज्याभिषेक हो जानेपर सब भाई अयोध्यामें सुखपूर्वक निवास करने लगे, उस समय जब कभी भरतजी और शत्रुघ्नजी हनुमान्‌जीसहित उपवनमें जाया करते, तब श्रीहनुमान्‌जीसे भगवान्‌के गुणानुवाद सुना करते। उस वर्णनसे इनका कथा-श्रवणमें

अत्यन्त अनुराग और तज्जन्य आह्लाद, मुग्धता आदि प्रत्यक्ष प्रकट हो रहे हैं। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

भरत सत्रुहन दोनउ भाई। सहित पवनसुत उपबन जाई॥
बूझहिं बैठि राम गुन गाहा। कह हनुमान सुमति अवगाहा॥
सुनत बिमल गुन अति सुख पावहिं। बहुरि बहुरि करि बिनय कहावहिं॥

(२) कीर्तन-भक्ति

भगवान्‌के नाम, रूप, गुण, प्रभाव, चरित, तत्त्व और रहस्यका श्रद्धा-प्रेमपूर्वक उच्चारण करते-करते शरीरमें रोमाञ्च, कण्ठावरोध, अश्रुपात, हृदयकी प्रफुल्लता, मुग्धता आदिका होना कीर्तन-भक्तिका स्वरूप है।

ये लक्षण भी भरतजीमें मिलते हैं। जिस समय भरतजी शृङ्गवेरपुर पहुँचकर गङ्गातटपर ठहर गये, उस समय वहाँ उनके पास गुह आया तो उसने—

दृष्ट्वा भरतमासीनं सानुजं सह मन्त्रिभिः।
चीराम्बरं घनश्यामं जटामुकुटधारिणम्॥
राममेवानुशोचन्तं रामरामेति वादिनम्।
ननाम शिरसा भूमौ गुहोऽहमिति– चाब्रवीत्॥

(अध्यात्म०, अयोध्या० ८। २०-२१)

'मेघके समान श्याम शरीरवाले, चीर-वस्त्र पहने, जटाका मुकुट धारण किये हुए तथा श्रीरामका ही स्मरण-चिन्तन करते हुए और 'राम-राम'—इस प्रकार कहते हुए एवं मन्त्रियोंके साथ बैठे हुए छोटे भाई शत्रुघ्नजीसहित भरतजीको देखकर पृथ्वीपर माथा टेककर प्रणाम किया और कहा कि 'मैं गुह हूँ।'

इसके पश्चात् भरतजी प्रयाग गये तो वहाँ भी भजन-कीर्तन करते

हुए ही गये। श्रीगोस्वामीजी लिखते हैं—

भरत तीसरे पहर कहँ कीन्ह प्रबेसु प्रयाग।
कहत राम सिय राम सिय उमगि उमगि अनुराग॥

जिस समय भगवान्‌के विरहमें व्याकुल हुए श्रीभरतजी नन्दिग्राममें निवास करते थे, उस समय वे मुनियोंकी भाँति अपना समय बिताया करते थे। वहाँ वे प्रेममें मुग्ध होकर भगवान्‌के नामका जप और उनके गुण तथा चरित्रोंकी अमृतमयी कथाका वर्णन भी किया करते थे। श्रीरामचरितमानसमें बतलाया है—

पुलक गात हियँ सिय रघुबीरू। जीह नामु जप लोचन नीरू॥

पद्मपुराणके पातालखण्डमें भी आता है—

गर्तशायी ब्रह्मचारी जटावल्कलसंयुतः।
कृशाङ्गयष्टिर्दुःखार्तः कुर्वन् रामकथां मुहुः॥

(१।३०)

'उन दिनों भरतजी जमीनमें गड्ढा खोदकर उसीमें सोया करते थे। ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए मस्तकपर जटा और शरीरपर वल्कल वस्त्र धारण किये रहते थे। उनका शरीर अत्यन्त दुर्बल हो गया था। वे बार-बार श्रीरामचन्द्रजीकी कथा कहते हुए वियोगके दुःखसे आतुर रहते थे।'

वहाँ नन्दिग्राममें भरतजीके पास जब हनुमान्‌जी पहुँचे, तब वे देखते हैं—

कथयन्तं मन्त्रिवृद्धान् रामचन्द्रकथानकम्।
तदीयपदपाथोजमकरन्दसुनिर्भरम्॥

(पद्म०, पाताल० २।१२)

'भरतजी अपने वृद्ध मन्त्रियोंसे श्रीरामचन्द्रजीकी कथाएँ कह रहे हैं, जो कि उनके चरणकमलोंके मकरन्दसे अत्यन्त भरपूर हैं।'

उस समय तपस्यासे कृश हुए विरक्त भरतको भगवान् श्रीरामकी विरह-व्याकुलताभरी विह्वलताकी अवस्थामें निमग्न तथा भगवान्‌के नामका जप करते हुए देखकर हनुमान्‌के आनन्दकी सीमा नहीं रही। श्रीहनुमान्‌जीकी उस अवस्थाका वर्णन श्रीगोस्वामीजीके शब्दोंमें ही पढ़िये—

बैठे देखि कुसासन जटा मुकुट कृस गात।
राम राम रघुपति जपत स्रवत नयन जलजात॥
देखत हनूमान अति हरषेउ। पुलक गात लोचन जल बरषेउ॥
मन महँ बहुत भाँति सुख मानी। बोलेउ श्रवन सुधा सम बानी॥
जासु बिरहँ सोचहु दिन राती। रटहु निरंतर गुन गन पाँती॥
रघुकुल तिलक सुजन सुखदाता। आयउ कुसल देव मुनि त्राता॥

इस प्रकार श्रीभरतजीके भगवन्नामजप और गुणादिके कीर्तनका बड़ा ही सुन्दर प्रकरण मिलता है। हमलोगोंको उचित है कि जिस प्रकार प्रेमी भक्त भरतजी प्रेममें मग्न होकर जप तथा कथा-कीर्तन किया करते थे, उसी प्रकार हम भी उनका अनुकरण करें।

(३) स्मरण-भक्ति

प्रभुके नाम, रूप, गुण, प्रभाव, लीला, तत्त्व और रहस्यका प्रेममें मुग्ध होकर मनन करना और इस प्रकार मनन करते-करते भगवान्‌के स्वरूपमें तल्लीन हो जाना स्मरण-भक्तिका स्वरूप है। भरतजीमें ये लक्षण भी मिलते हैं। भगवान् श्रीरामका बारम्बार चिन्तन करनेका तो उनका स्वभाव ही था। वे सदा सर्वगुणसम्पन्न भगवान् श्रीरामके अद्भुत रूपलावण्यसंयुक्त स्वरूपका विशेषरूपसे चिन्तन किया करते थे। वे अयोध्यामें रहते हुए तो भगवान्‌का चिन्तन करते ही थे, किंतु जब भगवान्‌को अयोध्या लौटा लानेके लिये चित्रकूट गये तब रास्तेमें भी भगवान्‌का चिन्तन करते हुए ही चले और चित्रकूटमें

तो वे साक्षात् भगवान् श्रीरामका दर्शन कर ही रहे थे। तदनन्तर जब भरतजी चित्रकूटसे अयोध्या लौटे तब रास्तेमें उनके गुण, चरित्र और स्वरूपका मनन करते हुए ही आये एवं नन्दिग्राममें आकर तो उन्होंने अपना अधिक समय चिन्तनमें ही बिताया।

अध्यात्मरामायणमें भरतजीके अयोध्या-निवास-कालका वर्णन करते हुए लिखा है—

अवसत्स्वगृहे तत्र राममेवानुचिन्तयन्।
वसिष्ठेन सह भ्रात्रा मन्त्रिभिः परिवारितः॥

(अयोध्या० ७। ११३)

'वहाँ (अयोध्यामें) अपने घरमें गुरु वसिष्ठजी और भाई शत्रुघ्नके साथ एवं मन्त्रियोंसे घिरे हुए भरतजी श्रीरामचन्द्रजीका ही स्मरण करते हुए रहने लगे।'

चित्रकूटके मार्गमें भरतजीकी अवस्थाका वर्णन करते हुए बतलाया है—

इत्यद्भुतप्रेमरसाप्लुताशयो विगाढचेता रघुनाथभावने।
आनन्दजाश्रुस्नपितस्तनान्तरः शनैरवापाश्रमसन्निधिं हरेः॥

(अध्यात्म०, अयोध्या० ९। ४)

'जिनका हृदय इस प्रकार अद्भुत प्रेमरससे भरा हुआ है, मन श्रीरघुनाथजीकी भावनामें डूबा हुआ है तथा वक्षःस्थल आनन्दाश्रुओंसे भीगा हुआ है, वे भरतजी धीरे-धीरे श्रीहरिके आश्रमके निकट पहुँचे।'

तथा—

भरतस्तु सहामात्यैर्मातृभिर्गुरुणा सह॥
अयोध्यामगमच्छीघ्रं राममेवानुचिन्तयन्।

(अध्यात्म०, अयोध्या० ९। ६९-७०)

'भरतजी अपने मन्त्रियों, माताओं और गुरु वसिष्ठजीके साथ श्रीरामचन्द्रजीका ही चिन्तन करते हुए शीघ्रतासे अयोध्याको लौट चले।'

श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

मुनि महिसुर गुर भरत भुआलू। राम बिरहँ सबु साजु बिहालू॥
प्रभु गुन ग्राम गनत मन माहीं। सब चुपचाप चले मग जाहीं॥

नन्दिग्राममें निवास करते हुए भरतजी अपने मन्त्रियोंसे कहते हैं—

दुर्भगस्य मम प्राप्तं स्वाघमार्जनमादरात्।
करोमि रामचन्द्राङ्घ्रि स्मारं स्मारं सुमन्त्रिणः॥

(पद्म०, पाताल० १।४०)

'मन्त्रिगण! मुझ अभागेके लिये अपने पापोंके प्रायश्चित्त करनेका यह अवसर प्राप्त हुआ है। अतः मैं श्रीरामचन्द्रजीके चरणोंका निरन्तर आदरपूर्वक स्मरण करते हुए अपने दोषोंका मार्जन करूँगा।'

उस समय हनुमान्‌जीने—

ददर्श भरतं दीनं कृशमाश्रमवासिनम्॥
मलपङ्कविदिग्धाङ्गं जटिलं वल्कलाम्बरम्।
फलमूलकृताहारं रामचिन्तापरायणम्॥
यं त्वं चिन्तयसे रामं तापसं दण्डके स्थितम्।
अनुशोचसि काकुत्स्थः स त्वां कुशलमब्रवीत्॥

(अध्यात्म०, युद्ध० १४।५१, ५२, ५५)

'अति दीन और दुर्बल अवस्थामें आश्रममें निवास करते हुए, अत्यन्त मलिन शरीरवाले, जटाजूट और वल्कल वस्त्र धारण किये हुए तथा फल-मूलादिका भोजन करके भगवान् श्रीरामके ध्यानमें तत्पर हुए भरतजीको देखा और कहा—'भरतजी! आप जिन दण्डकारण्यवासी तपोनिष्ठ भगवान् श्रीरामका चिन्तन करते हैं तथा जिनके लिये आप

इतना अनुताप करते हैं, उन ककुत्स्थनन्दन श्रीरामने आपको अपनी कुशल कहला भेजी है।'

वहाँ भरतजी समय-समयपर भगवान्‌के गुण, चरित्र और प्रभावसे संयुक्त स्वरूपको याद करते हुए विरह-व्याकुलतामें मुग्ध हो जाया करते थे। परन्तु साथ-साथ उनको भगवान्‌के विरदपर यह पूरा विश्वास था कि भगवान् मुझे अवश्य मिलेंगे। इस आधारपर वे क्षण-क्षणमें भगवान्‌की प्रतीक्षा किया करते थे। उन्हें भगवान्‌के दर्शनमें विलम्ब असह्य था, अतः वे विरहव्याकुलतामें निमग्न हुए मन-ही-मन करुणाभावसे विलाप किया करते थे। इस विषयमें श्रीतुलसीदासजीने उनके विलापका बहुत ही सुन्दर चित्र खींचा है। वे कहते हैं—

भरत नयन भुज दच्छिन फरकत बारहिं बार।
जानि सगुन मन हरष अति लागे करन बिचार॥

रहेउ एक दिन अवधि अधारा। समुझत मन दुख भयउ अपारा॥
कारन कवन नाथ नहिं आयउ। जानि कुटिल किधौं मोहि बिसरायउ॥
अहह धन्य लछिमन बड़भागी। राम पदारबिंदु अनुरागी॥
कपटी कुटिल मोहि प्रभु चीन्हा। ताते नाथ संग नहिं लीन्हा॥
जौं करनी समुझै प्रभु मोरी। नहिं निस्तार कलप सत कोरी॥
जन अवगुन प्रभु मान न काऊ। दीन बंधु अति मृदुल सुभाऊ॥
मोरे जियँ भरोस दृढ़ सोई। मिलिहहिं राम सगुन सुभ होई॥
बीतें अवधि रहहिं जौं प्राना। अधम कवन जग मोहि समाना॥

राम बिरह सागर महँ भरत मगन मन होत।
बिप्र रूप धरि पवनसुत आइ गयउ जनु पोत॥

भगवान् श्रीरामके वियोगमें उनकी आशा-प्रतीक्षा करते हुए भरतजी किस प्रकार उनके गुण और स्वभावका चिन्तन करनेमें अपना

समय बिता रहे हैं, यह ध्यान देने योग्य है।

(४) पादसेवन-भक्ति

श्रीभगवान्‌के दिव्य मङ्गलमय स्वरूपकी धातु आदिकी मूर्ति, चित्रपट अथवा मानस मूर्तिके मनोहर चरणोंका तथा उनकी चरण-रज और चरण-पादुकाओंका श्रद्धापूर्वक दर्शन, चिन्तन, पूजन और सेवन करते-करते भगवत्प्रेममें मग्न हो जाना और उनका चरणामृत लेना 'पाद-सेवन' कहलाता है।

ये लक्षण भी भरतजीमें मिलते हैं। पादसेवन-भक्तिके तो भरतजी आचार्य ही हैं। यद्यपि लक्ष्मीजी सदा ही भगवान्‌के चरणोंकी सेवामें रत हैं, किंतु चरणोंके ही समान चरण-पादुकाओंकी भी सेवा-पूजा करनेकी शिक्षा तो हमें भरतजीसे ही मिलती है। इसके सिवा चरण-रजका आदर भी जैसा भरतजीने किया, वैसा किसीने किया हो, इसका कोई उल्लेख वाल्मीकीय रामायणकालसे पूर्व कहीं देखनेमें प्रायः नहीं आता।

चित्रकूटके लिये प्रस्थान करनेके पूर्वसे ही भरतजीके हृदयमें जो भगवान्‌के चरणकमलोंमें अनन्य भक्ति तथा चरणोंके दर्शन और सेवनकी लालसा विद्यमान थी, वह अलौकिक और प्रशंसनीय है। वे जब अयोध्यासे चित्रकूट गये, तब रास्तेमें जहाँ कहीं भगवान्‌की चरण-रज मिली, वे उसको बड़े ही आदर-सम्मानपूर्वक श्रद्धा-प्रेमसे सिर और आँखोंपर लगाकर मुग्ध हो गये। भरतजी महाराज श्रीरामचन्द्रजीकी चरण-सेवाके हेतु ही उनको चित्रकूटसे अयोध्या लौटनेका आग्रह करते रहे। किंतु जब भगवान्‌ने किसी प्रकार भी अयोध्या जाना स्वीकार नहीं किया, तब उन्होंने चरण-सेवाके अङ्गरूप चरण-पादुका प्रदान करनेकी प्रार्थना की। इतना ही नहीं, उन्होंने भगवान्‌के द्वारा दी हुई चरण-पादुकाओंको अपने मस्तकपर धारण करके उनको ही अपने वियोगकी अवधिका

आधार बनाया तथा वे चित्रकूटसे लौटते समय मार्गमें भी चरण-पादुकाओंका ही मनन करते हुए नन्दिग्राम पहुँचे। वहाँ आकर भरतजी चरण-पादुकाओंको राज्यसिंहासनपर स्थापन करके राज्यका सारा कार्य उन्हींको निवदेन करके किया करते थे। वे चरण-पादुकाओंको ही अपने प्राणोंका आधार मानते और बहुत ही श्रद्धा-प्रेमपूर्वक उनका पूजन किया करते। वाल्मीकीय और अध्यात्म-रामायणमें तो यहाँतक दिखलाया है कि जब श्रीरामचन्द्रजी महाराज अयोध्या लौटे, तब भरतजी चरण-पादुकाओंको मस्तकपर धारण करके उनके सामने गये। धन्य है, भरतजीकी चरण-सेवा-भक्तिको !

श्रीभरतजी कहते हैं—

यावन्न चरणौ भ्रातुः पार्थिवव्यञ्जनान्वितौ।
शिरसा प्रग्रहीष्यामि न मे शान्तिर्भविष्यति॥

(वा० रा०, अयोध्या० ९८।९)

'जबतक मैं राजाके उपयुक्त चिह्नोंसे युक्त भाईके चरणोंको सिरसे प्रणाम न कर लूँगा, तबतक मुझे शान्ति नहीं मिलेगी।'

श्रीरामचरितमानसमें लिखा है—

चरन रेख रज आँखिन्ह लाई। बनइ न कहत प्रीति अधिकाई॥

तथा—

हरषहिं निरखि राम पद अंका। मानहुँ पारसु पायउ रंका॥
रज सिर धरि हियँ नयनन्हि लावहिं। रघुबर मिलन सरिस सुख पावहिं॥
देखि भरत गति अकथ अतीवा। प्रेम मगन मृग खग जड़ जीवा॥

अध्यात्मरामायणमें बतलाया है—

स तत्र वज्राङ्कुशवारिजाञ्चितध्वजादिचिह्नानि पदानि सर्वतः।
ददर्श रामस्य भुवोऽतिमङ्गलान्यचेष्टयत्पादरजःसु सानुजः॥

अहो सुधन्योऽहममूनि रामपादारविन्दाङ्कितभूतलानि ।
पश्यामि यत्पादरजो विमृग्यं ब्रह्मादिदेवैः श्रुतिभिश्च नित्यम् ॥

(अयोध्या० ९ । २-३)

'भरतजीने वहाँ सब ओर भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके वज्र, अङ्कुश, कमल और ध्वजा आदिके चिह्नोंसे सुशोभित तथा पृथ्वीके लिये अति मङ्गलमय चरण-चिह्न देखे। उन्हें देखकर भाई शत्रुघ्नके सहित वे उस चरणरजमें लोटने लगे और मन-ही-मन कहने लगे—'अहो ! मैं परम धन्य हूँ ! जो आज श्रीरामचन्द्रजीके उन चरणारविन्दोंके चिह्नोंसे सुशोभित भूमिको देख रहा हूँ, जिनकी चरणरजको ब्रह्मा आदि देवगण और सम्पूर्ण श्रुतियाँ भी सदा खोजती रहती हैं।''

जब चित्रकूटमें अनेक आग्रह करनेपर भी भगवान् श्रीराम अयोध्या चलनेको तैयार न हुए, तब भरतजीने कहा—

अधिरोहार्य पादाभ्यां पादुके हेमभूषिते ।
एते हि सर्वलोकस्य योगक्षेमं विधास्यतः ॥
चतुर्दश हि वर्षाणि जटाचीरधरो ह्यहम् ॥
फलमूलाशनो वीर भवेयं रघुनन्दन ।
तवागमनमाकाङ्क्षन् वसन् वै नगराद् बहिः ॥
तव पादुकयोर्न्यस्य राज्यतन्त्रं परंतप ।
चतुर्दशे हि सम्पूर्णे वर्षेऽहनि रघूत्तम ॥
न द्रक्ष्यामि यदि त्वां तु प्रवेक्ष्यामि हुताशनम् ।

(वा० रा०, अयोध्या० ११२ । २१, २३—२६)

'आर्य ! आप इन दोनों सुवर्णभूषित पादुकाओंपर अपने चरण रखें ! ये ही सम्पूर्ण जगत्के योग-क्षेमका निर्वाह करेंगी। वीर रघुनन्दन ! मैं भी चौदह वर्षोंतक जटा और चीर धारण करके फल-मूलका

भोजन करूँगा। हे परंतप! आपके आनेकी बाट जोहता हुआ नगरसे बाहर ही रहूँगा। इतने दिनोंतक राज्यका सारा भार आपकी इन चरण-पादुकाओंपर ही रहेगा। रघुनाथजी! चौदहवाँ वर्ष पूरा होनेके बाद यदि पहले ही दिन मुझे आपका दर्शन नहीं मिलेगा तो मैं जलती हुई आगमें प्रवेश कर जाऊँगा।

अध्यात्मरामायणमें भी भरतजी कहते हैं—

पादुके देहि राजेन्द्र राज्याय तव पूजिते।
तयोः सेवां करोम्येव यावदागमनं तव॥

(अयोध्या० ९।४९)

'राजेन्द्र! आप मुझे राज्य-शासनके लिये अपनी जगत्पूज्य चरण-पादुकाएँ दीजिये। जबतक आप लौटेंगे, तबतक मैं उन्हींकी सेवा करता रहूँगा।'

इत्युक्त्वा पादुके दिव्ये योजयामास पादयोः।
रामस्य ते ददौ रामो भरतायातिभक्तितः॥
गृहीत्वा पादुके दिव्ये भरतो रत्नभूषिते।
रामं पुनः परिक्रम्य प्रणनाम पुनः पुनः॥
भरतः पुनराहेदं भक्त्या गद्गदया गिरा।
नवपञ्चसमान्ते तु प्रथमे दिवसे यदि॥
नागमिष्यसि चेद् राम प्रविशामि महानलम्।

(अध्यात्म०, अयोध्या० ९।५०—५३)

'ऐसा कहकर भरतजीने श्रीरामचन्द्रजीके चरणोंमें दो दिव्य पादुकाएँ (खड़ाऊँ) पहना दीं। श्रीरामचन्द्रजीने भरतका भक्तिभाव देखकर वे खड़ाऊँ भरतजीको दे दीं। भरतजीने वे रत्न-जटित दिव्य पादुकाएँ लेकर फिर श्रीरामचन्द्रजीकी परिक्रमा की और उन्हें बार-बार प्रणाम किया।

तदनन्तर वे भरतजी प्रेमभरी गद्‌गद-वाणीसे इस प्रकार बोले—'रामजी ! यदि चौदह वर्षके व्यतीत होनेपर आप पहले दिन ही अयोध्या न लौटे तो मैं महान् अग्निमें प्रवेश कर जाऊँगा।'

श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

प्रभु करि कृपा पाँवरीं दीन्हीं। सादर भरत सीस धरि लीन्हीं॥

महाभारतमें बतलाया है—

विसर्जितः स रामेण पितुर्वचनकारिणा।
नन्दिग्रामेऽकरोद् राज्यं पुरस्कृत्यास्य पादुके॥

(वन० २७७। ३९)

'पिताके वचनोंका पालन करनेवाले श्रीरामचन्द्रजीके द्वारा विदा किये हुए भरतजी नन्दिग्राममें आ गये और उन श्रीरघुनाथजीकी पादुकाओंको सामने रखकर समस्त राज्यका पालन करने लगे।'

वाल्मीकीय रामायणमें वर्णन आता है कि भरतजी नन्दिग्राममें जाकर बड़े-बूढ़ोंसे इस प्रकार बोले—

एतद् राज्यं मम भ्रात्रा दत्तं संन्यासमुत्तमम्।
योगक्षेमवहे चेमे पादुके हेमभूषिते॥

(अयोध्या० ११५। १४)

'मेरे भाई श्रीरामने मुझे उत्तम धरोहरके रूपमें यह राज्य दिया है और इसके योगक्षेमके संचालनके लिये ये दो स्वर्णभूषित पादुकाएँ दी हैं।'

फिर प्रजामण्डलसे कहने लगे—

छत्रं धारयत क्षिप्रमार्यपादाविमौ मतौ।
आभ्यां राज्ये स्थितो धर्मः पादुकाभ्यां गुरोर्मम॥

(वा० रा० अयोध्या० ११५। १६)

'ये पादुकाएँ आर्य श्रीरामचन्द्रजीके चरणोंकी प्रतिनिधि हैं, अतः

इनपर शीघ्र ही छत्र धारण करो। मेरे गुरु श्रीरामचन्द्रजीकी इन पादुकाओंसे ही राज्यमें धर्म स्थापित होगा।'

ततस्तु भरतः श्रीमानभिषिच्यार्यपादुके।
तदधीनस्तदा राज्यं कारयामास सर्वदा॥
तदा हि यत् कार्यमुपैति किञ्चि-
दुपायनं चोपहृतं महार्हम्।
स पादुकाभ्यां प्रथमं निवेद्य
चकार पश्चाद् भरतो यथावत्॥

(वा० रा०, अयोध्या० ११५। २३-२४)

'तदनन्तर श्रीरामचन्द्रजीकी श्रेष्ठ पादुकाओंका अभिषेक करके और स्वयं सर्वदा उनके अधीन होकर श्रीमान् भरतजी उस समय राज्यका पालन करने लगे। उस समय जो कोई भी कार्य उपस्थित होता तथा जो कुछ भी श्रेष्ठ बहुमूल्य भेंट आती, वह सब भरतजी पहले पादुकाओंको निवेदित करके फिर उसका यथावत् प्रबन्ध कर देते।'

श्रीहनुमान्‌जीने नन्दिग्राममें आकर—

ददर्श भरतं दीनं कृशमाश्रमवासिनम्।
जटिलं मलदिग्धाङ्गं भ्रातृव्यसनकर्शितम्॥
फलमूलाशिनं दान्तं तापसं धर्मचारिणम्।
समुन्नतजटाभारं वल्कलाजिनवाससम्॥
नियतं भावितात्मानं ब्रह्मर्षिसमतेजसम्।
पादुके ते पुरस्कृत्य प्रशासन्तं वसुन्धराम्॥

(वा० रा०, युद्ध० १२५। ३०—३२)

—देखा कि भरतजी कृश और दीन हैं तथा आश्रम बनाकर रहते हैं। उनकी जटाएँ बढ़ी हुई हैं, शरीरपर मैल जम गया है, भाईके वनवासके

दुःखने उन्हें बहुत ही कृश कर दिया है, फल-मूल ही उनका भोजन है, वे इन्द्रियोंका दमन करके तपस्यामें लगे हुए हैं और धर्मका आचरण करते हैं। उनके मस्तकपर जटाओंका भार है और शरीरपर वल्कल तथा मृगचर्मके वस्त्र हैं। उनका जीवन बहुत नियमित और अन्तःकरण भगवान्‌के ध्यानसे विशुद्ध है, वे ब्रह्मर्षिके समान तेजस्वी भरतजी श्रीरघुनाथजीकी उन पादुकाओंको आगे रखकर पृथ्वीका शासन कर रहे हैं।'

महाभारतमें भी आया है कि—

स तत्र मलदिग्धाङ्गं भरतं चीरवाससम्॥
अग्रतः पादुके कृत्वा ददर्शासीनमासने।

(वन० ३९१। ६२-६३)

'वनवाससे लौटकर उन भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने नन्दिग्राममें आकर चीर-वस्त्र पहने हुए और मैल जमे हुए शरीरवाले भरतको पादुकाओंको आगे रखकर आसनपर बैठे हुए देखा।'

श्रीरामचन्द्रजीको आते देखकर वे बड़े ही प्रसन्न हुए और—

आर्यपादौ गृहीत्वा तु शिरसा धर्मकोविदः॥
पाण्डुरं छत्रमादाय शुक्लमाल्योपशोभितम्।
शुक्ले च वालव्यजने राजार्हे हेमभूषिते॥
...
प्रत्युद्ययौ तदा रामं महात्मा सचिवैः सह।

(वा० रा०, युद्ध० १२७। १७-१८, २१)

'धर्मज्ञ भरतने अपने बड़े भाई श्रीरामचन्द्रजीकी पादुकाएँ सिरपर रख लीं तथा श्वेत मालाओंसे सुशोभित सफेद रंगका छत्र और राजाओंके योग्य सोनेसे मढ़े हुए दो सफेद चँवर भी ले लिये। उस समय वह महात्मा भरत मन्त्रियोंके साथ श्रीरामचन्द्रजीकी अगवानीके लिये शीघ्र ही चल पड़े।'

अध्यात्मरामायणमें भी लिखा है कि—

भरतः पादुके न्यस्य शिरस्येव कृताञ्जलिः ॥
शत्रुघ्नसहितो रामं पादचारेण निर्ययौ ।

(अध्यात्म०, युद्ध० १४ । ७५-७६)

'श्रीरघुनाथजीसे मिलनेके लिये भाई शत्रुघ्नके सहित भरतजी सिरपर भगवान्‌की पादुकाएँ रखकर हाथ जोड़े हुए पैदल ही चले ।'

इस प्रकार चरण-पादुकाओंको चरणोंके तुल्य समझकर सेवा करनेका भाव, कथा या चरित्र भरतजीसे पूर्व कहीं देखनेमें नहीं आता । अतः हमलोगोंको भरतजीको आदर्श मानकर भगवान्‌के चरण, चरण-पादुका और चरण-रजकी सेवा करनी चाहिये ।

(५) अर्चन-भक्ति

धातु आदिसे बनी मूर्ति या चित्रपटके रूपमें देखे हुए अथवा श्रीभगवान्‌के भक्तोंसे सुने हुए भगवान्‌के स्वरूपका बाह्य सामग्रियोंसे तथा भगवान्‌की मानसिक मूर्तिका मानसिक सामग्रियोंसे एवं उनके साक्षात् विग्रह और चरणोंका नानाविध उपचारोंसे श्रद्धा-भक्तिपूर्वक सेवन-पूजन करना और उनके तत्त्व, रहस्य तथा प्रभावको समझ-समझकर प्रेममें मुग्ध होना 'अर्चन-भक्ति' है ।

ये लक्षण भी भरतजीमें विद्यमान थे । साक्षात् भगवान् श्रीरामचन्द्रजी-की प्रेमपूर्वक पूजा करनेकी तो बात ही क्या, भगवान्‌की अनुपस्थितिमें भरतजी मनसे भगवान्‌को आसनपर स्थापन करके मनसे ही उनकी सेवा-पूजा किया करते थे । जब भरतजी महाराज भरद्वाजजीके आश्रममें गये, तब वहाँ भरद्वाजजीने भरतजीके आतिथ्य-सत्कारमें सिद्धियोंसे राजमहलकी रचना करके भरतजीके लिये राजाओंके योग्य एक सिंहासन-की स्थापना की थी । किंतु भरतजी उस सिंहासनपर नहीं बैठे, बल्कि उसे

साक्षात् भगवान् श्रीरामका सिंहासन मानकर स्वयं मन्त्रीके स्थानपर स्थित हो रातभर चँवर डुलाते हुए ही भगवान्‌की सेवा करते रहे। श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं—

तत्र राजासनं दिव्यं व्यजनं छत्रमेव च।
भरतो मन्त्रिभिः सार्धमभ्यवर्तत राजवत्॥
आसनं पूजयामास रामायाभिप्रणम्य च।
वालव्यजनमादाय न्यषीदत्सचिवासने॥

(वा॰ रा॰, अयोध्या॰ ९१। ३८-३९)

'भरतने वहाँ दिव्य राज्यसिंहासन, चँवर और छत्र भी देखे तथा उनमें राजाकी भावना करके मन्त्रियोंके साथ उन सबकी प्रदक्षिणा की। 'सिंहासनपर श्रीरामचन्द्रजी विराजमान हैं' ऐसा मानकर उन्होंने श्रीरामको प्रणाम किया और उस सिंहासनकी भी पूजा की। फिर अपने हाथमें चँवर ले वे मन्त्रीके आसनपर जा बैठे।'

भरतजीने इस प्रकार सेवा-पूजा करते हुए ही वह रात्रि व्यतीत की। कैसी अनोखी सेवा-पूजा है!

जब भरतजी नन्दिग्राम आये तब वहाँ राजसिंहासनपर भगवान्‌के स्थानमें भगवान्‌की चरण-पादुकाओंको स्थापित करके उनकी पत्र, पुष्प, गन्ध आदिके द्वारा शास्त्रविधिके अनुसार पूजा किया करते थे।

अध्यात्मरामायणमें बतलाया है—

तत्र सिंहासने नित्यं पादुके स्थाप्य भक्तितः॥
पूजयित्वा यथा रामं गन्धपुष्पाक्षतादिभिः।
राजोपचारैरखिलैः प्रत्यहं नियतव्रतः॥
राजकार्याणि सर्वाणि यावन्ति पृथिवीतले।
तानि पादुकयोः सम्यङ् निवेदयति राघवः॥

(अयोध्या॰ ९। ७१-७२, ७४)

'वहाँ एक सिंहासनपर उन दोनों पादुकाओंको रखकर वे नियमित व्रतवाले रघुश्रेष्ठ भरतजी श्रीरामचन्द्रजीके समान ही उनकी नित्य भक्तिपूर्वक गन्ध, पुष्प और अक्षत आदि समस्त राजोचित सामग्रियोंसे पूजा करनेके अनन्तर पृथ्वीके प्रतिदिन जितने भी राजकार्य होते, उन सबको वे रघुश्रेष्ठ भरतजी पादुकाओंके सामने भली प्रकार निवेदन कर दिया करते थे।'

इसी प्रकार पद्मपुराणमें भी आता है कि—

रामस्य पादुके राज्यमवाप्य भरतः शुभे।
प्रत्यहं गन्धपुष्पैश्चापूजयत् कैकयीसुतः॥
तपश्चरणयुक्तेन तस्मिंस्तस्थौ नृपोत्तमः।

(उत्तर० २६९। १९०-१९१)

'कैकेयीनन्दन भरतजी श्रीरामचन्द्रजीकी उन मङ्गलमयी पादुकाओंको राज्यसिंहासनपर स्थापित करके नित्य गन्ध-पुष्प आदिसे उनकी पूजा किया करते और इस प्रकार वे नृपश्रेष्ठ भरतजी उस नन्दिग्राममें तपस्यामें संलग्न होकर रहने लगे।'

श्रीतुलसीदासजीने भी कहा है—

नित पूजत प्रभु पाँवरी प्रीति न हृदयँ समाति।
मागि मागि आयसु करत राजकाज बहु भाँति॥

भगवान्‌के श्रीविग्रहकी पूजा तो शास्त्रोंमें स्थान-स्थानपर मिलती है; किंतु भगवान्‌के स्थानमें चरणपादुकाओंको रखकर उनकी भी श्रद्धा-प्रेमपूर्वक पूजा करना—इस शिक्षाके प्रवर्तक आचार्य तो श्रीभरतजी ही हुए। धन्य है उनकी इस अलौकिक अर्चन-भक्तिको!

चौदह वर्षकी अवधि समाप्त होनेपर जब श्रीरामचन्द्रजी महाराज अयोध्या आ रहे थे, तब तो भरतजीने प्रत्यक्ष ही विमानपर स्थित

श्रीरामचन्द्रजीका अर्घ्य-पाद्यादिसे विधिपूर्वक पूजन किया।

प्राञ्जलिर्भरतो भूत्वा प्रहृष्टो राघवोन्मुखः।
यथार्थेनार्घ्यपाद्याद्यैस्ततो राममपूजयत्॥

(वा० रा०, युद्ध० १२७। ३६)

'भरतजी प्रसन्नतापूर्वक श्रीरामचन्द्रजीकी ओर दृष्टि लगाये हाथ जोड़कर खड़े हो गये। फिर उन्होंने विमानमें विराजमान श्रीरामजीकी विधिपूर्वक अर्घ्य-पाद्य आदिसे पूजा की।'

इस प्रकार रामचरित्रोंमें यत्र-तत्र भरतजीके द्वारा पूजा करनेके अनेक स्थल मिलते हैं। हमलोगोंको भी भरतजीको आदर्श मानकर भगवान्‌की सेवा-पूजा करनेमें तत्परतासे लगना चाहिये।

(६) वन्दन-भक्ति

श्रीभगवान्‌के शास्त्रवर्णित स्वरूप, भगवान्‌के नाम, भगवान्‌की धातु आदिकी मूर्ति, चित्र अथवा मानसिक मूर्तिको एवं भगवान्‌के साक्षात् चरणोंको शरीर अथवा मनसे श्रद्धासहित प्रणाम करना और ऐसा करते हुए भगवत्प्रेममें मुग्ध होना 'वन्दन-भक्ति' है। ये लक्षण भी भरतजीमें पूर्णतया विद्यमान थे। भरतजीकी वन्दन-भक्तिके विषयमें तो कहना ही क्या है! वे जब महाराज श्रीरामचन्द्रजीको लौटा लानेके लिये विदा हुए, तब रास्तेमें उनको नमस्कार करते हुए ही गये और चित्रकूटमें पहुँचकर तो वे दण्डकी भाँति भगवान्‌के चरणोंमें गिर पड़े तथा करुणाभावसे विह्वल हो गये। श्रीतुलसीदासजी लिखते हैं—

सखा बचन सुनि बिटप निहारी। उमगे भरत बिलोचन बारी॥
करत प्रनाम चले दोउ भाई। कहत प्रीति सारद सकुचाई॥

× × ×

कहत सप्रेम नाइ महि माथा। भरत प्रनाम करत रघुनाथा॥

****

× × ×

सानुज भरत उमगि अनुरागा। धरि सिर सिय पद पदुम परागा॥
पुनि पुनि करत प्रनाम उठाए। सिर कर कमल परसि बैठाए॥

श्रीअध्यात्मरामायणमें बतलाया है—

मातुर्मे दुष्कृतं किञ्चित्स्मर्तुं नार्हसि पाहि नः॥
इत्युक्त्वा चरणौ भ्रातुः शिरस्याधाय भक्तितः।
रामस्य पुरतः साक्षाद्दण्डवत्पतितो भुवि॥

(अयोध्या० ९।२५-२६)

'मेरी माताका जो कुछ अपराध है, उसे भूल जाइये और हमलोगोंकी रक्षा कीजिये।'—ऐसा कहकर भरतजीने भाई श्रीरामचन्द्रजीके चरणोको भक्तिपूर्वक मस्तकपर रख लिया और साक्षात् श्रीरामचन्द्रजीके सम्मुख दण्डके समान पृथ्वीपर गिर पड़े।'

चित्रकूटसे वापस आते समय भी भरतजी भगवान्‌को प्रणाम करके दुःखित हृदयसे ही आये हैं। श्रीगोस्वामीजी कहते हैं—

अस कहि प्रेम बिबस भए भारी। पुलक सरीर बिलोचन बारी॥
प्रभु पद कमल गहे अकुलाई। समउ सनेहु न सो कहि जाई॥

× × ×

प्रभु पद पदुम बंदि दोउ भाई। चले सीस धरि राम रजाई॥

जब भगवान् श्रीरामचन्द्रजी वनसे लौटकर अयोध्या आये, तब भरतजी उनके चरणोंमें लिपट गये; यद्यपि भरतजी उन चरणोंको छोड़ना नहीं चाहते थे, पर भगवान्‌ने बलपूर्वक उन्हें उठाकर हृदयसे लगा लिया। उस समय भरतजीने सीताजीको भी प्रणाम किया और अपनेको अपराधी मानकर उनसे अपराधके लिये क्षमा-प्रार्थना की।

श्रीवाल्मीकीय रामायणका वर्णन है—

ततो विमानाग्रगतं भरतो भ्रातरं तदा।
ववन्दे प्रणतो रामं मेरुस्थमिव भास्करम्॥
आरोपितो विमानं तद् भरतः सत्यविक्रमः।
राममासाद्य मुदितः पुनरेवाभ्यवादयत्॥
ततो लक्ष्मणमासाद्य वैदेहीं च परंतपः।
अथाभ्यवादयत्प्रीतो भरतो नाम चाब्रवीत्॥

(युद्ध० १२७। ३८, ४०, ४२)

'उस समय भरतजीने विमानके अग्रभागमें विराजमान भाई श्रीरामको देखा और जिस प्रकार लोग मेरुपर्वतस्थ दीखते हुए सूर्यको नमस्कार करते हैं, उसी प्रकार उस समय श्रीरामको विनयपूर्वक प्रणाम किया। भगवान् श्रीरामने सत्यपराक्रमी भरतजीको उस विमानपर चढ़ा लिया। भरतजीने श्रीरघुनाथजीके पास पहुँचकर प्रसन्नचित्त हो पुनः प्रणाम किया। तदनन्तर भाई लक्ष्मणसे मिलकर फिर परंतप भरतजीने सीताजीको अपना नाम उच्चारण करके प्रेमसे अभिवादन किया।'

प्रायः ऐसा ही वर्णन अध्यात्मरामायणमें भी आया है। वहाँ बतलाया है—

आरोपितो विमानं तद् भरतः सानुजस्तदा।
राममासाद्य मुदितः पुनरेवाभ्यवादयत्॥
ततो लक्ष्मणमासाद्य वैदेहीं नाम कीर्तयन्।
अभ्यवादयत प्रीतो भरतः प्रेमविह्वलः॥

(युद्ध० १४। ८३, ८५)

'उस समय भगवान् श्रीरामने भाई शत्रुघ्नके सहित भरतजीको उस विमानपर चढ़ा लिया; श्रीरामचन्द्रजीके निकट पहुँचनेपर भरतजीने अति आनन्दित हो उन्हें पुनः प्रणाम किया। फिर प्रेमसे विह्वल हुए भरतजीने

लक्ष्मणजीसे मिलकर श्रीसीताजीको अपना नाम उच्चारण करते हुए प्रेमपूर्वक प्रणाम किया।'

उस समयकी भरतजीकी अवस्थाका दिग्दर्शन कराते हुए पद्मपुराणमें भी बतलाया है—

दृष्ट्वा समुत्तीर्णमिमं रामचन्द्रं स तैर्युतम्।
हर्षाश्रूणि प्रमुञ्चंश्च दण्डवत् प्रणनाम ह॥
उत्थापितोऽपि च भृशं नोदतिष्ठद् रुदन् मुहुः।
रामचन्द्रपदाम्भोजग्रहणासक्तबाहुभृत्॥
पतिव्रतां जनकजामनमन्यत ननाम च॥
मातः क्षमस्व यदघं मया कृतमबुद्धिना।

(पद्म०, पाताल० २।२९, ३१, ३७-३८)

'उन सहायकोंसहित श्रीरामचन्द्रजीको भूमिपर उतरे देख वे भरतजी हर्षके आँसू बहाते हुए उनके सामने ही दण्डकी भाँति धरतीपर पड़ गये। आरम्भमें भगवान्‌के बारंबार उठानेपर भी वे उठे नहीं; अपितु अपने दोनों हाथोंसे श्रीरामचन्द्रजीके चरणारविन्दोंको पकड़कर लगातार फूट-फूटकर रोते रहे। तत्पश्चात् पतिव्रता जनककिशोरीका दर्शन करके भरतजीने उन्हें सम्मानपूर्वक प्रणाम किया और कहा—'मा! मुझ मूर्खके द्वारा जो अपराध हो गया है, उसे क्षमा करना।'

श्रीरामचरितमानसका वर्णन इस प्रकार है—

गहे भरत पुनि प्रभु पद पंकज। नमत जिन्हहि सुर मुनि संकर अज॥
परे भूमि नहिं उठत उठाए। बर करि कृपासिंधु उर लाए॥
स्यामल गात रोम भए ठाढ़े। नव राजीव नयन जल बाढ़े॥

प्रेम और विनयकी क्या ही सुन्दर अवस्था है! भरतजी प्रेम और विनयकी तो मूर्ति ही थे। वन्दन करना तो उनका स्वभाव बन गया था।

जब कभी वे भगवान्‌से मिलते, तभी उन्हें नमस्कार किया करते थे। उनकी यह आदर्श वन्दन-भक्ति हमलोगोंके लिये सदा अनुकरणीय है।

(७) दास्य-भक्ति

श्रीभगवान्‌के गुण, तत्त्व, रहस्य और प्रभावको समझते हुए श्रद्धा-प्रेमपूर्वक उनकी सेवा करना और उनकी आज्ञाका पालन करना तथा प्रभुको स्वामी और अपनेको सेवक समझना 'दास्य-भावरूप भक्ति' है।

यह भाव तो भरतजीमें पद-पदपर पाया जाता है। यह तो उनका मुख्य भाव है। जब भरतजी ननिहालसे अयोध्या लौट आये, तब कैकेयीसे यह कह दिया कि मैं श्रीरामचन्द्रजीको लौटाकर उनका दास होकर उनकी सेवा करूँगा। बादमें गुरु वसिष्ठजी और मन्त्रियोंने उनको राज्य देनेकी बहुत चेष्टा की, किंतु उनके उत्तरमें भरतजीने यही कहा कि 'मैं इसमें आपका और अपना किसीका भी हित नहीं देखता। मैं तो अपना हित उनकी सेवामें ही समझता हूँ।' भरतजीके इस भावको सुनकर सभी मुग्ध हो गये। इसी भावको लेकर भरतजी रामचन्द्रजी महाराजको लाने अयोध्यासे चित्रकूटके लिये विदा हुए। मार्गमें जहाँ-कहीं वे ठहरे, उनके बर्ताव और वार्तालापसे यही भाव झलकता था। चित्रकूटमें भी उनकी प्रत्येक क्रियामें दासभाव टपकता था, क्योंकि वे दास्यभावकी एक जीती-जागती मूर्ति ही थे। उन्होंने आजीवन भगवान् श्रीरामकी सेवा और उनकी आज्ञाके पालनको ही अपना सर्वोत्तम परम धर्म मान रखा था और इसीमें वे अपना परम कल्याण समझते थे। उनकी दृष्टिमें भगवान् श्रीरामकी सेवासे बढ़कर और कोई दूसरा काम ही नहीं था। भगवान्‌की कठिन-से-कठिन आज्ञा उनके लिये सहर्ष शिरोधार्य थी। भरतजी अपने स्वामीको संकोचमें डालना पाप समझते थे। भगवान् श्रीरामकी आज्ञाके पालनार्थ ही उन्होंने चौदह वर्षतक उनका वियोग सहन किया। राज्यका

काम करते हुए पद-पदपर उनका श्रीरामके प्रति सेवाभाव चमकता था। चौदह वर्षके पश्चात् भगवान्‌के वापस आनेपर भरतजी उनका राज्य उनके चरणोंमें समर्पित करके आजीवन उन्हींकी सेवा और आज्ञापालनमें लगे रहे। कभी नगरसे बाहर जाना होता, तब वहाँ भी उनकी सेवा करना और अपने हितके लिये उपदेशकी बातें पूछते रहना—उनका मुख्य काम था। इस प्रकार भरतजीने आजीवन प्रधानतया दास्यभावमें ही अपना समय बिताया।

उनकी सेवा, आज्ञापालन और प्रेमके भावसे भगवान् स्वयं मुग्ध थे। इस विषयमें उनकी जितनी प्रशंसा की जाय, उतनी ही थोड़ी है। प्रेम और विनयपूर्वक सेवाभावके लिये भरतजी परम आदर्श हैं। यद्यपि भरतजीके सारे ही आचरण दासभावके द्योतक हैं, तथापि कई स्थलोंमें तो दासभावकी ही प्रधानता है। अब नीचे कुछ प्रमुख प्रमाणोंके द्वारा उनके दासभावका दिग्दर्शन कराया जाता है—

माता कैकेयीके प्रति भरतजीके वचन हैं—

निवर्तयित्वा रामं च तस्याहं दीप्ततेजसः।
दासभूतो भविष्यामि सुस्थितेनान्तरात्मना॥

(वा० रा०, अयोध्या० ७३। २७)

'मैं श्रीरामको लौटा लाऊँगा और उन देदीप्यमान तेजस्वी महापुरुषका दास बनकर सुस्थिर—शान्तचित्तसे जीवन व्यतीत करूँगा।'

अध्यात्मरामायणमें भी आता है कि—

गच्छाम्यारण्यमद्य स्थिरमतिरखिलं दूरतोऽपास्य राज्यम्।
रामं सीतासमेतं स्मितरुचिरमुखं नित्यमेवानुसेवे॥

(अयोध्या० ७। ११४)

'मैंने निश्चय कर लिया; मैं सम्पूर्ण राज्यको सर्वथा छोड़कर आज ही

वनको जाऊँगा और मधुर मुसकानसे जिनका मुखारविन्द अति शोभित हो रहा है, उन श्रीराम और सीताकी नित्यप्रति सेवा करूँगा।'

भरतजी गुरु वसिष्ठजी तथा मन्त्रियोंसे कहते हैं—

हित हमार सियपति सेवकाई। सो हरि लीन्ह मातु कुटिलाई॥

मार्गमें गुहके प्रति कहते हैं—

अहं रामस्य दासा ये तेषां दासस्य किङ्करः।
यदि स्यां सफलं जन्म मम भूयान्न संशयः॥

(अध्यात्म०, अयोध्या० ८। ३३)

'जो लोग भगवान् श्रीरामके दास हैं, उनके दासोंका अनुचर भी यदि मैं हो जाऊँ तो निःसंदेह मेरा जन्म सफल हो जाय।'

कैसा सुन्दर दास-भाव है!

चित्रकूटमें जाकर भरतजी भगवान् श्रीरामसे कहते हैं—

अहमप्यागमिष्यामि सेवे त्वां लक्ष्मणो यथा।
नो चेत्प्रायोपवेशेन त्यजाम्येतत्कलेवरम्॥

(अध्यात्म०, अयोध्या० ९। ३९)

'(अच्छा, यदि आप वनसे नहीं लौटना चाहते तो मुझे आज्ञा दीजिये, जिससे) मैं भी वनमें चलकर लक्ष्मणके समान ही आपकी सेवा करूँ, नहीं तो मैं अन्न-जल छोड़कर इस शरीरको त्याग दूँगा।' भगवान्‌की सेवाके लिये भरतजीका कितना आग्रह है!

किंतु भगवान्‌के स्वभावको यादकर भरतजी फिर कहने लगे—

अब करुनाकर कीजिअ सोई। जन हित प्रभु चित छोभु न होई॥
जो सेवकु साहिबहि सँकोची। निज हित चहइ तासु मति पोची॥
सेवक हित साहिब सेवकाई। करै सकल सुख लोभ बिहाई॥

भगवान्‌के अयोध्या लौट आनेपर जब कभी भरतजी उनके साथ

किसी उपवन या अमराईमें जाते थे, तो वहाँ भी सेवा ही करते रहते। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

सुनि प्रभु बचन भरत गहे चरना। सुनहु नाथ प्रनतारति हरना॥
करउँ कृपानिधि एक ढिठाई। मैं सेवक तुम्ह जन सुखदाई॥

× × ×

हरन सकल श्रम प्रभु श्रम पाई। गए जहाँ सीतल अँवराई॥
भरत दीन्ह निज बसन डसाई। बैठे प्रभु सेवहिं सब भाई॥

इस प्रकार भरतजी नित्य भगवान्‌की सेवामें ही लगे रहे। धन्य है भरतजीके इस आदर्श सेवाभावको ! भरतजीके चरित्रका भलीभाँति मनन करके उनके सेवाभावको आदर्श बनाकर हमें उनका अनुकरण करना चाहिये।

(८) सख्य-भक्ति

श्रीभगवान्‌के प्रभाव, तत्त्व, रहस्य और महिमाको समझते हुए परम विश्वासपूर्वक मित्रभावसे उनकी रुचिके अनुसार बन जाना, उनमें अनन्य प्रेम करना तथा उनके गुण, रूप और लीलापर मुग्ध होकर नित्य-निरन्तर प्रसन्न रहना 'सख्यभावरूप भक्ति' है।

भरतजीके आचरण और भावोंसे केवल सखाभाव नहीं मिलता; किंतु अन्य भावोंके साथ-साथ सखाभाव भी झलकता है। जैसे वाल्मीकीय रामायणमें कहा है—

यो मे भ्राता पिता बन्धुर्यस्य दासोऽस्मि सम्मतः।
तस्य मां शीघ्रमाख्याहि रामस्याक्लिष्टकर्मणः॥

(वा० रा०, अयोध्या० ७२। ३२)

भरतजी मातासे कहते हैं—'जो मेरे भाई, पिता और बन्धु हैं तथा जिनका मैं प्रिय दास हूँ, उन सरलस्वभाव श्रीरामचन्द्रजीका पता शीघ्र बतलाओ।'

चित्रकूटमें भरतजीने भगवान् श्रीरामसे प्रार्थना करते हुए कहा है—

एभिश्च सचिवैः सार्धं शिरसा याचितो मया।
भ्रातुः शिष्यस्य दासस्य प्रसादं कर्तुमर्हसि ॥

(वा० रा०, अयोध्या० १०१। १२)

'इन मन्त्रियोंके साथ सिर झुकाकर मैं आपसे निवेदन करता हूँ कि मैं आपका भाई, शिष्य और दास हूँ, मुझपर आप दया करें।'

उपर्युक्त श्लोकोंमें शिष्य, दास, पिता—इन सब शब्दोंके साथ 'बन्धु' और 'भ्राता' शब्द भी हैं, जो कि सख्य-भावके द्योतक हैं तथा 'भ्राता' शब्दके साथ ही 'बन्धु' शब्दका अलग प्रयोग करना तो सखाभावको स्पष्ट सिद्ध करता है। अतएव भरतजीका भाई, दास, शिष्य आदि भावोंके साथ-साथ सखाभाव भी था। भ्रातृत्वके भावमें भी बराबरीका भाव होनेके कारण सखाभाव टपकता है। तुलसीकृत रामायणको देखनेसे भी यह बात सिद्ध होती है। भरतजीके ही वचन हैं—

प्रभु पितु मातु सुहृद गुर स्वामी। पूज्य परम हित अंतरजामी ॥

× × ×

सुहृद सुजान सुसाहिबहि बहुत कहब बड़ि खोरि।
आयसु देइअ देव अब सबइ सुधारी मोरि ॥

इन चौपाई-दोहोंमें प्रभु, पिता, माता, गुरु, स्वामी, पूज्य, हितू आदि शब्दोंके साथ 'सुहृद्' शब्दका प्रयोग किया गया है, जो कि इनसे अपना भिन्न अर्थ रखता है। अतएव यहाँ 'सुहृद्' शब्द सखाभावका ही द्योतक है। निःसंदेह भरतजीका श्रीराममें प्रधानतया दासभाव होते हुए भी भ्रातृत्व और प्रेमके नाते मित्रभाव भी था।

भगवान् श्रीरामके बर्तावसे भी भाइयोंके साथ सखाभाव प्रकट होता है। वनगमनके पूर्व राजतिलककी तैयारीके समय श्रीरामचन्द्रजी महाराज

राज्यमें सब भाइयोंका समान अधिकार मानते हुए कहते हैं—

जनमे एक संग सब भाई। भोजन सयन केलि लरिकाई॥
करनबेध उपबीत बिआहा। संग संग सब भए उछाहा॥
बिमल बंस यहु अनुचित एकू। बंधु बिहाइ बड़ेहि अभिषेकू॥
प्रभु सप्रेम पछितानि सुहाई। हरउ भगत मन कै कुटिलाई॥

इससे सब भ्राताओंके साथ श्रीरामका मित्रताका भाव झलकता है। लक्ष्मणके प्रति तो मुख्यतया 'सखा' शब्दका प्रयोग मिलता है। वनमें साथ जानेको तैयार हुए लक्ष्मणसे भगवान् कहते हैं—

स्निग्धो धर्मरतो धीरः सततं सत्पथे रतः।
प्रियः प्राणसमो वश्यो विधेयश्च सखा च मे॥

(वा॰ रा॰, अयोध्या॰ ३१। १०)

'लक्ष्मण! तुम मेरे परम स्नेही, धर्मपरायण, धैर्य-सम्पन्न और सदा सन्मार्गपर चलनेवाले हो। तुम मुझे प्राणोंके समान प्रिय एवं मेरे अधीन, आज्ञापालक और सखा हो।'

इसके अतिरिक्त पद्मपुराणके पातालखण्डमें एक श्लोक मिलता है, जिसमें भगवान् श्रीरामने प्रेममें विह्वल होकर भरतके प्रति पाँच बार 'भाई' शब्दका उच्चारण किया है। इसमें भरतजीके प्रति भगवान्‌का बराबरीका तथा आदर और प्रेमका भाव सन्निहित है, इससे यह सखाभावका ही द्योतक है।

यानादवततराशु विरहक्लिन्नमानसः।
भ्रातर्भ्रातः पुनर्भ्रातर्भ्रातर्भ्रातर्वदन्मुहुः॥

(पद्म॰, पाताल॰ २। २८)

'निकट आनेपर भगवान् श्रीरामका हृदय विरहसे कातर हो उठा और वे 'भैया! भैया भरत!' इस प्रकार कहते तथा बारम्बार

'भाई ! भाई !! भाई !!!' की रट लगाते हुए तुरंत ही विमानसे उतर पड़े।'

तुलसीकृत रामायणमें भी भरतजीके प्रति भगवान्‌के द्वारा सम्मानपूर्वक बराबरीका व्यवहार किये जानेकी बात आयी है।

श्रीगोस्वामीजी लिखते हैं—

कृपासिंधु सनमानि सुबानी। बैठाए समीप गहि पानी॥

—इस व्यवहारसे भगवान्‌का भरतके प्रति सखाभाव स्पष्ट प्रकट होता है।

इस प्रकार श्रीरामचन्द्रजी महाराजके बर्तावमें तो कई जगह ही भरतके प्रति आदर-सम्मान, बराबरी और प्रेमका व्यवहार पाया जाता है, इससे स्पष्ट ही सखाभाव झलकता है। जैसे, जब-जब भरतजी नमस्कार करते, तभी भगवान् उन्हें हृदयसे लगा लिया करते। भगवान्‌का यह बर्ताव सखाभावका ही परिचायक है।

(९) आत्मनिवेदन-भक्ति

श्रीभगवान्‌के तत्त्व, रहस्य, प्रभाव और महिमाको जानकर ममता और अहंकाररहित होकर सब कुछ भगवान्‌का ही समझते हुए तन-मन-धन-जनसहित अपने-आपको तथा सम्पूर्ण कर्मोंको श्रद्धा और परम प्रेमपूर्वक भगवान्‌को समर्पण कर देना 'आत्मनिवेदनभावरूप भक्ति' है।

भरतजीमें आत्मनिवेदनका भाव भी कम नहीं था; क्योंकि वे अपनेको भगवान्‌के अर्पित ही समझते थे। तुलसीकृत रामायणमें भरतजी विलाप करते हुए कैकेयीके सामने पिताको लक्ष्य कर कहते हैं—

चलत न देखन पायउँ तोही। तात न रामहि सौंपेहु मोही॥

इसी प्रकार अध्यात्मरामायणमें भी कहा है—

हा तात क्व गतोऽसि त्वं त्यक्त्वा मां वृजिनार्णवे ॥
असमर्प्यैव रामाय राज्ञे मां क्व गतोऽसि भोः ।

(अध्यात्म०, अयोध्या० ७ । ६६-६७)

'हा तात ! मुझे दुःख-समुद्रमें छोड़कर आप कहाँ चले गये ? हाय ! महाराज रामको मुझे समर्पण किये बिना ही आप कहाँ चले गये ?'

भरतजीके इस पश्चात्तापसे यह सिद्ध होता है कि वे अपने-आपको श्रीरामके समर्पित ही समझा करते थे।

इसके अतिरिक्त भरतजी 'जो कुछ भी राज्य और धन है, वह सब श्रीरघुनाथजी महाराजका ही है, मैं भी उनका ही हूँ, अतः इन सबको उनके समर्पण करके उनकी सेवा करूँगा'—इस भावको हृदयमें रखकर चित्रकूट गये। वहाँ उन्होंने श्रीरामचन्द्रजीको लौटानेकी अनुनय-विनयपूर्वक बहुत चेष्टा की, परंतु श्रीरामचन्द्रजीने किसी प्रकार भी वापस लौटना स्वीकार नहीं किया और भरतको ही राज्यशासनके लिये बाध्य किया। 'महाराज रामकी आज्ञाका पालन करना ही तुम्हारा परम धर्म है'—गुरु वसिष्ठजीकी ऐसी सम्मति होनेके कारण भरतजीने भगवान्के स्थानमें भगवान्की चरणपादुकाओंको आश्रय बनाकर उनके प्रति ही समस्त राज्यको और अपने-आपको समर्पण कर दिया। चौदह वर्षकी अवधि बीतनेपर भगवान्के अयोध्या पधारनेपर धरोहररूपसे रखा हुआ भगवान्का राज्य भगवान्को सौंप दिया और अपना शरीर भी भगवान्के चरणोंमें अर्पण कर दिया। भरतजी भगवान्की शरणमें ही अपना परम कल्याण मानकर आजीवन उनकी आज्ञाका पालन करते रहे। राज्यके किसी भी पदार्थकी तो बात ही क्या, अपने शरीरमें भी वे अपना अधिकार नहीं समझते थे। वे केवल भगवान्को ही अपना सर्वस्व मानकर केवल उन्हींपर निर्भर रहा करते थे। इसके लिये रामायण आदि सब शास्त्र

प्रमाण हैं। इस विषयमें नीचे कुछ प्रमाणोंका दिग्दर्शन कराया जाता है—

भरतजी भरद्वाजजीसे कहते हैं—

मम राज्येन किं स्वामिन् रामे तिष्ठति राजनि।
किङ्करोऽहं मुनिश्रेष्ठ रामचन्द्रस्य शाश्वतः॥
अतो गत्वा मुनिश्रेष्ठ रामस्य चरणान्तिके।
पतित्वा राज्यसम्भारान् समर्प्यात्रैव राघवम्॥
....
नेष्येऽयोध्यां रमानाथं दासः सेवेऽतिनीचवत्॥

(अध्यात्म०, अयोध्या० ८। ४९-५१)

'स्वामिन्! महाराज रामके रहते हुए मुझे राज्यसे क्या प्रयोजन है? मुनिश्रेष्ठ! मैं तो सदा ही श्रीरामचन्द्रजीका दास हूँ। अतः मुनिनाथ! मैं श्रीरामके पास जाकर उनके चरणकमलोंमें पड़कर यह सारी राजपाटकी सामग्री उन्हें यहीं सौंपकर लक्ष्मीपति श्रीरामको अयोध्या ले आऊँगा और अति तुच्छ दासकी भाँति उनकी सेवा करूँगा।'

आत्मसमर्पणका भाव व्यक्त करते हुए भरतजी श्रीरामचन्द्रजीसे कह रहे हैं—

कीन्ह सप्रेम प्रनामु बहोरी। बोले पानि पंकरुह जोरी॥
नाथ भयउ सुखु साथ गए को। लहेउँ लाहु जग जनमु भए को॥
अब कृपाल जस आयसु होई। करौं सीस धरि सादर सोई॥
सो अवलंब देव मोहि देई। अवधि पार पावौं जेहि सेई॥

नन्दिग्राममें निवास करते समय वे मन्त्रियोंसे बता रहे हैं—

ततो निक्षिप्तभारोऽहं राघवेण समागतः।
निवेद्य गुरवे राज्यं भजिष्ये गुरुवर्तिताम्॥

राघवाय च संन्यासं दत्त्वेमे वरपादुके।
राज्यं चेदमयोध्यां च धूतपापो भवाम्यहम्॥

(वा० रा०, अयोध्या० ११५। १९-२०)

'श्रीरामचन्द्रजीका समागम होते ही उन महापुरुषकी सेवामें यह राज्य समर्पित कर देनेपर मेरा भार उतर जायगा और मैं उनकी आज्ञाके अधीन रहकर उन्हींकी सेवामें लग जाऊँगा। मेरे पास धरोहरके रूपमें रखी हुई इन उत्तम पादुकाओंको, इस राज्यको और अयोध्याको भी श्रीरामकी सेवामें समर्पित करके मैं सब प्रकारके पापोंसे मुक्त होकर विशुद्ध हो जाऊँगा।'

तदनन्तर भगवान्‌के अयोध्या लौटनेपर भरतजीने क्या किया, सो बतलाते हैं—

पादुके ते तु रामस्य गृहीत्वा भरतः स्वयम्।
चरणाभ्यां नरेन्द्रस्य योजयामास धर्मवित्॥
अब्रवीच्च तदा रामं भरतः स कृताञ्जलिः।
एतत् ते सकलं राज्यं न्यासं निर्यातितं मया॥
अद्य जन्म कृतार्थं मे संवृत्तश्च मनोरथः।

(वा० रा०, युद्ध० १२७। ५४—५६)

'फिर धर्मात्मा भरतजीने स्वयं ही हाथमें उनकी वे दोनों पादुकाएँ लेकर महाराज श्रीरामचन्द्रजीके पैरोंमें पहना दीं। उस समय भरतजीने हाथ जोड़कर श्रीरामचन्द्रजीसे निवेदन किया कि मेरे पास थाती रखा हुआ आपका यह समस्त राज्य आज मैंने आपको वापस सौंप दिया है, आज मेरा जन्म सफल हो गया एवं मेरा मनोरथ पूरा हुआ।'

अध्यात्मरामायणमें भी लगभग इसी तरहका प्रसङ्ग आया है—

भरतः पादुके ते तु राघवस्य सुपूजिते।
योजयामास रामस्य पादयोर्भक्तिसंयुतः॥
राज्यमेतन्न्यासभूतं मया निर्यातितं तव।
अद्य मे सफलं जन्म फलितो मे मनोरथः॥

(युद्ध० १४।९३-९४)

'तत्पश्चात् भरतजीने श्रीरामचन्द्रजीकी उन भलीभाँति पूजा की हुई पादुकाओंको भक्तिपूर्वक श्रीरामके ही चरणोंमें पहना दिया और कहा—प्रभो ! मुझे धरोहररूपसे दिये हुए आपके इस राज्यको मैं पुनः आपको ही सौंपता हूँ; आज मेरा जन्म कृतार्थ हो गया और मेरी सारी मनोकामनाएँ पूरी हो गयीं।'

महाभारतमें भी बतलाया है कि—

तस्मै तद् भरतो राज्यमागतायातिसत्कृतम्।
न्यासं निर्यातयामास युक्तः परमया मुदा॥

(वन० २९१।६५)

'भरतजीने वह धरोहररूपमें रखा हुआ राज्य वनसे लौटकर आये हुए उन श्रीरामचन्द्रजीको बड़े ही हर्षसे अत्यन्त् सत्कारपूर्वक सौंप दिया।'

वस्तुतः भरतजीका समस्त जीवन ही मूर्तिमान् आत्मसमर्पण है। उनके सारे कार्य श्रीरामके लिये ही होते थे। रामकी प्रीति और प्रसन्नता ही उनके जीवनका मुख्य तथा नित्य लक्ष्य था; क्योंकि भरतजीमें नवधा भक्तिके सिवा प्रेमलक्षणा भक्ति भी पूर्णतया विद्यमान थी। वे प्रेमकी एक जीती-जागती मूर्ति ही थे। इसीसे भरद्वाज मुनिने कहा था—

तुम्ह तौ भरत मोर मत एहू। धरें देहु जनु राम सनेहू॥

इतना सब होनेपर भी भरतजी अपनेमें कोई गुण नहीं देख पाते। वे अपनेको विषयी, कपटी, कुटिल ही मानते हैं। असलमें आत्मनिवेदन वही सच्चा है, जहाँ निवेदनका अभिमान भी नहीं है। सब कुछ सहज ही समर्पित है और माना जाता है कि कुछ भी नहीं है। भरतजी ऐसे ही हैं।

भरतजीकी इस विलक्षण आत्मनिवेदन-भक्तिको आदर्श बनाकर चलनेवाले पुरुष धन्य हो सकते हैं।

उपसंहार

ऊपर भक्तिके नौ प्रकार बतलाये गये हैं, उनको तीन भागोंमें बाँट लेना चाहिये। पहली तीन—श्रवण, कीर्तन और स्मरण-भक्ति तो परोक्षमें यानी उपास्यदेवकी अनुपस्थितिमें की जाती हैं और दूसरी तीन— पादसेवन, अर्चन और वन्दन-भक्ति पूर्णतया तो भगवान्‌के साक्षात् मिलनेपर ही होती हैं, किंतु भगवान्‌की अनुपस्थितिमें मनके भावसे उनको प्रत्यक्ष मानकर भी इनका अनुष्ठान किया जाता है।

ये छः भक्ति तो क्रियारूप हैं। शेष तीन—दास, सख्य और आत्मनिवेदन-भक्ति भावरूप हैं; क्योंकि उनमें भावके अनुसार क्रिया होनेपर भी प्रायः भावकी ही प्रधानता रहती है। भक्तिमें प्रेमभाव तो एक व्यापक वस्तु है, उसका सम्बन्ध तो सभी प्रकारकी भक्तियोंके साथ है। इसलिये क्रियारूप भक्तिके साथ भावका संयोग होनेपर वह भी भावरूप हो जाती है।

बहुत-से भक्तगण श्रवणको सत्सङ्ग, कीर्तनको भजन और स्मरणको ध्यानका रूप देते हैं; क्योंकि इन तीनोंका उनके साथ परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसलिये इन तीनोंको एक समूहमें बाँधकर बतलाया गया है। इनमें भी वृक्षके मूलमें जल सींचनेकी भाँति

सत्सङ्ग भजन-ध्यानका पोषक है। इन तीनोंमेंसे एकका अनुष्ठान करनेसे भी परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है, जैसे श्रवणसे परीक्षित् आदि, कीर्तनसे नारद आदि और स्मरणसे ध्रुव आदि परमात्माको प्राप्त हो गये; फिर तीनोंके एक साथ अनुष्ठान करनेसे परमात्माको प्राप्त होनेमें तो कहना ही क्या है।

इसी प्रकार पादसेवन, अर्चन और वन्दन—इन तीनोंको एक दूसरेके समूहमें बाँधा गया है; क्योंकि भगवच्चरणोंकी सेवा, पूजा और नमस्कार—ये तीनों ही चरणोंसे विशेष सम्बन्ध रखते हैं। इन तीनोंमेंसे भी एकके सेवनसे ही भगवान्‌की प्राप्ति हो सकती है, जैसे पादसेवनसे केवट आदि , अर्चनसे पृथु आदि और वन्दनसे अक्रूर आदि भगवान्‌को प्राप्त हो गये; फिर एक साथ तीनोंके सेवनसे भगवत्प्राप्ति हो जाय, इसमें तो कहना ही क्या है।

इसी तरह दास्यभाव, सख्यभाव और आत्मनिवेदनभाव—ये तीनों भावरूपसे अनुष्ठान करने योग्य हैं; इसी कारण इन तीनोंकी एकता है। ये तीनों भाव एक साथ भी रह सकते हैं और अलग-अलग भी। इन तीनोंमेंसे किसी एक भावसे भी भगवान्‌की प्राप्ति हो सकती है, जैसे दासभावसे हनुमान् आदि, सखाभावसे अर्जुन आदि और आत्मनिवेदनभावसे बलि आदि भगवान्‌को प्राप्त हो गये हैं; फिर सब भावोंसे उपासना की जानेपर भगवान्‌की प्राप्ति हो जाय, इसमें तो कहना ही क्या है।

अतएव हमलोगोंको श्रद्धा-प्रेम और निष्कामभावपूर्वक बड़े ही उत्साहके साथ तत्परतासे भगवान्‌की भक्ति करनी चाहिये।

——::×::——